अज्ञेय

अपने अपने अजनबी

33
अ

भारतीय ज्ञानपीठ [redacted]

'अज्ञेय' के किसी उपन्यास को 'असाधारण' कहना शब्दों का अपव्यय करना है क्योंकि उतने की तो उस से कम से कम आशा की जाती है। **अपने-अपने अजनबी** केवल असाधारण नहीं, हिन्दी में और कदाचित् भारतीय साहित्यों में अपने ढंग का अद्वितीय है। 'मृत्यु से साक्षात्कार' को विषय बना कर मानव के जीवन और उस की नियति का इतने कम और इतने सरल शब्दों में ऐसा मार्मिक और भव्य विवेचन शायद ही कोई दूसरा लेखक कर सकता था।

[शेष दूसरे फ़्लैप पर]

अपने-अपने अजनबी

*

अज्ञेय

भारतीय राजदूतावास
[illegible]
काठमाडौं

भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन

लोकोदय ग्रन्थमाला :
सम्पादक एवं नियामक
लक्ष्मीचन्द्र जैन

ग्रन्थांक : १४३
प्रथम संस्करण : १९६१
द्वितीय संस्करण : १९६६
तृतीय संस्करण : १९७०

अपने-अपने अजनबी

(उपन्यास)

अज्ञेय

©

प्रकाशक

भारतीय ज्ञानपीठ

३६२०/२१ नेताजी सुभाष मार्ग, दिल्ली-६

मुद्रक

सन्मति मुद्रणालय,

दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी-५

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
स्वर्गीय रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

o o o o

APNE-APNE AJNABEE

(Novel)

by Ajneya

Published by : BHARATIYA JNANPITH
3620/21, Netajee Subhash Marg, Delhi-6
Phone : 272582. *Gram* : 'JNANPITH' Delhi-6

Price
Rs. 4/-

मूल्य : चार रुपये ।

जीन लायन की स्मृति को

डा. जिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

अपने-अपने

अजनबी

● ●

योके और सेल्मा

सेल्मा

योके

योके और सेल्मा

डा. जिल्ली रमण रेड्डी
कल्याणी रेड्डी स्मारक
पुस्तकालय

एकाएक सन्नाटा छा गया। उस सन्नाटे में ही योके ठीक से समझ सकी कि उस से निमिष-भर पहले भी कितनी ज़ोर का धमाका हुआ था—बल्कि धमाके को मानो अध-बीच में दबा कर ही एकाएक सन्नाटा छा गया था।

वह क्या उस नीरवता के कारण ही था, या कि अवचेतन रूप से सन्नाटे का ठीक-ठीक अर्थ भी योके समझ गयी थी, कि उस का दिल इतने ज़ोर से धड़कने लगा था? मानो सन्नाटे के दबाव को उस के हृदय की धड़कन का दबाव रोक कर अपने वश कर लेना चाहता हो।

बर्फ़ तो पिछली रात से ही पड़ती रही थी। वहाँ उस मौसम में बर्फ़ का गिरना, या लगातार गिरते रहना, कोई अचम्भे की बात नहीं थी। शायद उस का न गिरना ही कुछ असाधारण बात होती। लेकिन योके ने यह सम्भावना नहीं की थी कि बर्फ़ का पहाड़ यों टूट कर उन के ऊपर गिर पड़ेगा और वे इस तरह उस के नीचे दब जायेंगे। ज़रूर वह बर्फ़ के नीचे दब

गयी है, नहीं तो उस अधूरे धमाके और उस के बाद की नीरवता का और क्या अर्थ हो सकता है ?

'वे दब जायेंगे'—सहसा उसे ध्यान आया कि वह अकेली नहीं है और मानो इस से उस की तात्कालिक समस्या हल हो गयी, क्योंकि उसे तुरन्त ही चिन्ता करने को कोई दूसरी बात मिल गयी जिस से उस का ध्यान तूफ़ान की ओर से हट जाय। मिसेज़ एकेलोफ़ का क्या हुआ होगा ? योके दौड़ कर दूसरे कमरे में गयी—लेकिन देहली पार करते ही ठिठक गयी। श्रीमती एकेलोफ़ धुँधली खिड़की के पास घुटने टेक कर बैठी थीं। उन की पीठ योके की ओर थी। रूमाल से ढँका हुआ सिर तनिक-सा झुका हुआ था, जिस से योके ने अनुमान किया कि वह प्रार्थना कर रही होंगी। वह दबे पाँव लौट कर जाने ही वाली थी कि श्रीमती एकेलोफ़ ने खड़े होते हुए कहा : 'क्यों, योके, तुम डर तो नहीं गयीं ?'

योके को प्रश्न अच्छा नहीं लगा। उस ने कुछ रुखाई से कहा : 'किस से ?'

श्रीमती एकेलोफ़ ने कहा : 'हम लोग बर्फ़ के नीचे दब गये हैं। अब न जाने कितने दिन यों ही क़ैद रहना पड़ेगा। मैं तो पहले भी एक-आध जाड़ा यों काट चुकी हूँ, लेकिन तुम—'

योके ने कहा : 'मैं बर्फ़ से नहीं डरती। डरती होती तो यहाँ आती ही क्यों ? इस से पहले आल्प्स में बर्फ़ानी चट्टानों की चढ़ाइयाँ चढ़ती रही हूँ—एक बार हिम-नदी से फिसल कर गिरी भी थी। हाथ-पैर टूट गये होते—बच ही गयी। फिर भी यहाँ भी तो बर्फ़ की सैर करने ही आयी थी।'

श्रीमती एकेलोफ़ ने कहा : 'हाँ, सो तो है। लेकिन ख़तरे के आकर्षण में बहुत-कुछ सह लिया जाता है—डर भी। लेकिन

यहाँ तो कुछ भी करने को नहीं है।'

योके ने कहा : 'आण्टी सेल्मा, मेरी चिन्ता न करें—मैं काम चला लूँगी। लेकिन आप के लिए कुछ—'

सेल्मा एकेलोफ़ के चेहरे पर एक स्निग्ध मुसकान खिल आयी। 'आण्टी' सम्बोधन उन्हें शायद अच्छा ही लगा। एक गहरी दृष्टि योके पर डाल कर तनिक रुक कर उन्होंने पूछा : 'अभी क्या बजा होगा ?'

योके ने कलाई की घड़ी देख कर कहा : 'कोई साढ़े ग्यारह।'

'तब तो बाहर अभी रोशनी होगी। चल कर कहीं से देखा जाय कि बर्फ़ कितनी गहरी होगी—या कि खोद-खाद कर रास्ता निकालने की कोई सूरत हो सकती है या नहीं। वैसे मुझे लगता तो यही है कि जाड़ों-भर के लिए हम बन्द हैं।'

योके ने कहा : 'मेरी तो छुट्टियाँ भी इतनी नहीं हैं!' और फिर एकाएक इस चिन्ता के बेतुकेपन पर हँस पड़ी।

आण्टी सेल्मा ने कहा : 'छुट्टी तो शायद—मेरी भी इतनी नहीं है-पर—'

योके ने चौंकते हुए पूछा : 'आप की छुट्टी, आण्टी सेल्मा ?'

श्रीमती एकेलोफ़ ने बात बदलने के-से ढंग से कहा : 'फिर यह भी देखना चाहिए कि इस कैबिन में रसद-सामान कितना है—यों जाड़ा काटने के लिए सब सामान होना तो चाहिए। चलो, देखें।'

योके वापस मुड़ी और अपने पीछे श्रीमती एकेलोफ़ के धीमे, भारी और कुछ घिसटते हुए पैरों की चाप सुनती हुई रसोई की ओर बढ़ चली। रसोई के और उस के साथ के भण्डारे से दोनों ही प्रश्नों का उत्तर मिल सकेगा—रसद का

अनुमान भी हो जायगा और अगर बर्फ़ के बोझ के पार प्रकाश की हलकी-सी भी किरण दीखने की सम्भावना होगी तो वहीं से दीख जायेगी। क्योंकि उस का रुख़ दक्षिण-पूर्व को है और धूप वहीं पड़ सकती है—धूप तो अभी क्या होगी, पर इस बर्फ़ के झक्कड़ में जितना भी प्रकाश होगा उधर ही को होगा।

दोनों ही प्रश्नों का उत्तर एक ही मिलता जान पड़ा—कि जो कुछ है जाड़ों-भर के लिए काफ़ी है। खाने-पीने का सामान भी है और चर्बी के स्टोव के लिए काफ़ी ईंधन भी; और शायद जितनी बर्फ़ के नीचे वे दब गयी हैं उस के मार्च से पहले गलने की सम्भावना बहुत कम है। बर्फ़ की तह शायद इतनी मोटी न भी हो कि बाहर से उसे काटना असम्भव हो, लेकिन बाहर से उसे काटेगा कौन, और भीतर से अगर काटना शुरू कर के वे इस एक हिमपात के पार तक पहुँच भी सकें तो तब तक और बर्फ़ न पड़ जायेगी इस का क्या भरोसा है? यह तो जाड़ों के आरम्भ का तूफ़ान था, इस के बाद तो बराबर और बर्फ़ पड़ती ही जायेगी। उन्हें तो यही सुसंयोग मानना चाहिए कि वे बर्फ़ के नीचे ही दबीं, जिस से कैबिन बचा रह गया और अब जाड़ों-भर सुरक्षित ही समझना चाहिए। अगर उस के साथ चट्टान भी टूट कर गिर गयी होती—तब—

इस कल्पना से योके सिहर उठी और बोली: 'चलिए, चल कर बैठें। अभी तो कुछ करने को नहीं है, थोड़ी देर में भोजन की तैयारी करूँगी।'

दूसरे कमरे में जा कर बैठते हुए श्रीमती एकेलोफ़ ने कहा: 'अब की बार बिलकुल पूरा क्रिसमस होगा! क्रिसमस के साथ बर्फ़ ज़रूर होनी चाहिए, और अब की बार बर्फ़-ही-बर्फ़ होगी—नीचे-ऊपर सब बर्फ़-ही-बर्फ़!'

एक स्वरहीन हँसी हँस कर उन्होंने फिर कहा : 'थोड़ी-सी लकड़ी भी तो पड़ी है—उस को अगर अभी से ला कर यहीं रख छोड़ें तो सूखी रहेगी और क्रिसमस के दिन भारी आग जलायेंगे। क्योंकि गरमाई भी तो बर्फ़ से कम ज़रूरी नहीं है।'

योके ने खोये हुए स्वर में कहा : 'लेकिन आण्टी, क्रिसमस तो अभी बड़ी दूर है। तब तक क्या होगा ?'

आण्टी सेल्मा उठ कर योके के पास आ गयीं और उस के कन्धे पर हाथ रखती हुई बोलीं : 'योके, तुम्हारी अभी उमर ही ऐसी है न ! सभी-कुछ बड़ी दूर लगता है। मुझ से पूछो न, क्रिसमस कोई ऐसी दूर नहीं है, मेरे लिए ही'—और वह फिर बात अधूरी छोड़ कर चुप हो गयीं।

योके ने एक बार तीखी नज़र से उन की ओर देखा। आण्टी सेल्मा क्या कहना चाहती हैं, या कि क्या कहना नहीं चाहतीं जो बार-बार उन की ज़बान पर आ जाता है ? क्या वह उन से सीधे-सीधे पूछ ले कि उन के मन में क्या है ? क्या सचमुच आण्टी सेल्मा का यही अनुमान है कि वे दोनों अब बचेंगी नहीं—यही बर्फ़ से ढँका हुआ काठ का बँगला उन की क़ब्र बन जायेगा ? बल्कि क़ब्र बन क्या जायगा, क़ब्र तो बनी-बनायी तैयार है और उन्हीं को मरना बाक़ी है ! क़ब्र तो समय से ही बन गयी है—उन्हें ही मरने में देर हो गयी है—इस काल-विपर्यय के लिए निश्चय ही विधि को दोष नहीं दिया जा सकता !

लेकिन वह आण्टी सेल्मा से क्या पूछे—कैसे पूछे ? यहाँ सैर करने और बर्फ़ पर दौड़ करने तो वह स्वेच्छा से ही आयी थी और पहाड़ की अधित्यका में इस काठ-बँगले की स्थिति से आकृष्ट हो गयी थी, और यहाँ रहने का प्रस्ताव भी उसी ने किया था। आण्टी सेल्मा गड़रियों की माँ है—दो लड़के अब

भी गड़रिये हैं, एक लकड़हारा हो गया है; तीनों नीचे गये हुए हैं और जाड़ों के बाद ही लौट कर आयेंगे। यह तो उन का हर साल का क्रम है—जाड़ों में रेवड़ लेकर नीचे चले जाते हैं और वसन्त में फिर आ जाते हैं। यों तो आण्टी सेल्मा को भी चले जाना चाहिए था, लेकिन न जाने क्यों इस वर्ष वह यहीं रह गयीं। उन्हें देख कर पहले तो योके को आश्चर्य हुआ था, क्योंकि उस का अनुमान था कि काठ-बँगला ख़ाली ही होगा, जैसा कि प्रायः इन पहाड़ों में होता है। फिर उस ने मन-ही-मन अनुमान कर लिया था कि बुढ़िया कंजूस और शक्की तबीयत की होगी और उस को सामान से भरा हुआ घर ख़ाली छोड़ कर जाना न रुचा होगा—जाड़ों में काम-काज तो कुछ होता नहीं, और बर्फ़ के नीचे उतनी ठंड भी नहीं होती जितनी बाहर खुली हवा में, और बूढ़ों को चिन्ता किस बात की—एक ही जगह बैठे-बैठे पगुराते रहते हैं! अतीत की स्मृतियाँ कुरेद कर जुगाली करते हैं और फिर निगल लेते हैं!

लेकिन जाड़ों-भर यों अकेले पड़े रहना साहस माँगता है—कंजूस होना ही तो काफ़ी नहीं है; और बुढ़िया को कहीं कुछ हो-हवा जाय तो....

योके ने मानो अपने विचारों की गति रोकने के लिए ही कहा : 'थोड़ी-सी लकड़ी तो आज भी जलायी जा सकती है—मैं अभी आग जला दूँ ?'

आण्टी सेल्मा ने थोड़ी देर सोचती रह कर कहा : 'नहीं, अभी क्या करेंगे। या चाहो तो रात को जला लेना।' फिर थोड़ा रुक कर एकाएक : 'या कि तुम्हारी अभी आग जला कर बैठने की इच्छा है ? मुझे तो आग अच्छी ही लगती है, पर—'

पर क्या ? यही कि लकड़ी अधिक ख़र्च हो जायेगी ? पर

वैसा सोचना भी निरी कंजूसी नहीं है। कम-से-कम ढाई महीने वहाँ काटने की सम्भावना तो उन्हें करनी ही चाहिए—यानी बचे रहे तो। तीन महीने भी हो जायें तो हो सकते हैं। यों यह भी बिलकुल असम्भव तो नहीं है कि कोई उसे खोजने ही वहाँ आ जाये—घर के लोगों को तो पता ही है और पॉल तो यहाँ से एक ही दिन की दूरी पर होगा। पॉल तो रह नहीं सकेगा—ज़रूर उसे ढूँढ़ ही निकालेगा—पॉल जो कहा करता है कि तुम दुनिया के किसी भी देश में होतीं तो मैं तुम्हें खोज निकालता—लाखों, करोड़ों में तुरत पहचान लेता····वह दूसरी टोली के साथ दूसरे पहाड़ पर गया था और बर्फ़ से उतरते आते हुए नीचे मिलने की बात थी। ढाई महीने—तीन महीने! क़ब्रगाह—क्रिसमस! पाताल-लोक में देव-शिशु का उत्सव। नरक में भगवान्! पॉल ढूँढ़ निकालेगा—पर किस को ? मुझ को, या मेरी····

अनचाहे ही योके के मुख से निकल गया : 'नहीं आण्टी सेल्मा, मुझे अच्छा नहीं लग रहा है। आग से शायद--'

आण्टी सेल्मा फिर थोड़ी देर स्थिर दृष्टि से योके की ओर देखती रहीं। फिर उन्होंने धीरे-धीरे, मानो आधे स्वागत भाव से कहा : 'ख़तरे की कोई बात नहीं है, योके! वैसे ख़तरा तुम्हारे लिए कोई नयी चीज़ भी नहीं है। तुम तो तरह-तरह के खतरनाक खेल खेलती रही हो। लेकिन एक बात है। ख़तरे में डर के दो चेहरे होते हैं, जिन में से एक को दुस्साहस कहते हैं; कई लोग इसी एक चेहरे को देखते हुए बड़े-बड़े काम कर बैठते हैं और कहीं के कहीं पहुँच जाते हैं। लेकिन धीरज में डर का एक ही चेहरा होता है, और उसे देखे बिना काम नहीं चलता। उसे पहचान लेना ही अच्छा है—तब उतना अकेला नहीं रहता। निरे अजनबी डर के साथ क़ैद हो कर कैसे रहा जा सकता है ?

नहीं रहा जा सकता—बिलकुल नहीं रहा जा सकता !.... अच्छा, तुम आग जला लो, फिर मेरे पास बैठो, बहुत-सी बातें करेंगे। मैं तो अजनबी डर की बात कह गयी—अभी तो हम-तुम भी अजनबी-से हैं, पहले हम लोग तो पूरी पहचान कर लें !'

●

१५ दिसम्बर :

क़ब्रघर के दस दिन···सुना है कि दसवें दिन मुरदे उठ बैठते हैं और किसी फ़रिश्ते के सामने अपना हिसाब-किताब करने के लिए हाज़िर होते हैं। लेकिन इस क़ब्रगाह में तो हम दो ही हैं; और उठ बैठने का कोई सवाल ही नहीं हुआ—और फ़रिश्ता भी तो हम दोनों में-से किस को समझा जाय !

आण्टी सेल्मा तो बूढ़ी है, और हिसाब करने का दिन उस का ही पहले आयेगा। या कि कम से कम उस के मन की अवस्था कुछ अधिक वैसी होगी। लेकिन फ़रिश्ता क्या मैं हूँ ? मेरे भीतर जैसे दूषित विचार उठते हैं उन को देखते हुए इस कल्पना से बड़ा व्यंग्य और नहीं हो सकता ! फ़रिश्ता हम दोनों में-से कोई है तो शायद आण्टी सेल्मा, जिस के चेहरे पर अचानक कभी-कभी एक भाव दीखता है जो मानो इस लोक का नहीं है—और जिसे देख कर मैं बेचैन हो उठती हूँ, और मेरा मन हो उठता है कि कुछ तोड़-फोड़ कर बैठूँ !

१६ दिसम्बर :

एक अन्तहीन, परिवर्त्तनहीन धुँधली रोशनी, जो न दिन की है न रात की है, न सन्ध्या के किसी क्षण की ही है—एक अपार्थिव रोशनी जो कि शायद रोशनी भी नहीं है; इतना ही कि उसे अन्धकार नहीं कहा जा सकता। हमेशा सुनती आयी

हूँ कि क़ब्र में बड़ा अँधेरा होता है, लेकिन यहाँ उस की भी असम्पूर्णता और विविधता है ! शायद यही वास्तव में मृत्यु होती है, जिस में कुछ भी होता नहीं, सब कुछ होते-होते रह जाता है। होते-होते रह जाना ही मृत्यु का विशेष रूप है जो मनुष्य के लिए चुना गया है जिस में कि विवेक है, अच्छे-बुरे का बोध है। यह उस में न होता तो उस का मरना सम्पूर्ण हो सकता। जो चुकता वह सम्पूर्ण चुक जाता; या जो रहता उस का बना रहना भी असन्दिग्ध होता। यह हमारे युगों से सँचे हुए नीति-बोध की सज़ा है कि हमारा मरना भी अधूरा ही हो सकता है—मर कर भी कुछ हिसाब बाक़ी रह जाता है !

एक धुँधली रोशनी—एक ठिठका हुआ निःसंग जीवन। मानो घड़ी ही जीवन को चलाती है, मानो एक छोटी-सी मशीन ने जिस की चाबी तक हमारे हाथ में है, ईश्वर की जगह ले ली है। और हम हैं कि हमारे इतना भी वश नहीं है कि उस यन्त्र को चाबी न दें, घड़ी को रुक जाने दें, ईश्वर का स्थान हड़पने के लिए यन्त्र के प्रति विद्रोह कर दें, अपने को स्वतन्त्र घोषित कर दें !···घड़ी के रुक जाने से समय तो नहीं रुक जायेगा और रुक भी जायगा तो यहाँ पर क्या अन्तर होने वाला है, घड़ी के चलने पर भी तो यहाँ समय जड़ीभूत है ! एक ही अन्तहीन लम्बे शिलित क्षण में मैं जी रही हूँ—जीती ही जा रही हूँ—और वह क्षण ज़रा भी नहीं बदलता, टस-से-मस नहीं होता है ! क्या अपने सारे विकास के बावजूद हम मनुष्य भी निरे पौधे नहीं हैं जो बेबस सूरज की ओर उगते हैं ? अँधेरे में भी अंकुर मिट्टी के भीतर-ही-भीतर सूरज की ओर बढ़ता है, रौंदा जा कर फिर टेढ़ा हो कर भी सूरज की ओर ही मुड़ता है। कोई कहते हैं कि सब पौधे धरती के केन्द्र

से बाहर की ओर बढ़ते हैं—यानी केन्द्र से दूर हटने की प्रवृत्ति उन्हें सूरज की ओर ठेलती है। लेकिन इस केन्द्रापसारी प्रवृत्ति को भी अन्तिम मान लेना तो वैसा ही है जैसे हम पृथ्वी को सौरमण्डल से अलग मान लें। पृथ्वी भी सूरज की ओर खिंचती भी है और सूरज की ओर से परे को ठिलती भी रहती है। इसी तरह अंकुर भी जड़ों को नीचे की ओर फेंकता है और बढ़ता है सूरज की ओर!

और हम जड़ें कहीं नहीं फेंकते, या कि सतह पर ही इधर-उधर फैलाते जाते हैं, लेकिन जीते हैं सूरज के सहारे ही; अनजाने ही वह हमारे जीवन की हर क्रिया को, हर गति को अनुशासित कर रहा है। हम सब मूलतया सूर्योपासक हैं; और हमारे चिन्तन में चाहे जो कुछ हो, हमारे जीवन में सूर्य ईश्वर का पर्याय है। सूर्य और ईश्वर, सूर्य और समय, इसलिए सूर्य और हमारा जीवन—जहाँ सूर्य नहीं है वहाँ समय भी नहीं है।

लेकिन मैं जहाँ हूँ क्या सूर्य वहाँ सचमुच नहीं है? क्या काल वहाँ सचमुच नहीं है? क्या दावे से ऐसा न कह सकना ही मेरी यहाँ की समस्या नहीं है? मैं मानो एक काल-निरपेक्ष क्षण में टँगी हुई हूँ—वह क्षण काल की लड़ी में-से टूट कर कहीं छिटक गया है और इस तरह अन्तहीन हो गया है—अन्तहीन और अर्थहीन!

१९ दिसम्बर

शाम को हम लोग ताश खेलने बैठे थे। आण्टी सेल्मा न जाने कहाँ से एक पुराना डिब्बा ले आयी थी जिस में ताश की जोड़ी रखी थी। मुझ से बोली—'मुझे खेलना तो नहीं आता,

लेकिन तुम सिखाओगी तो सीख लूँगी। तुम्हारा मन भी लगा रहेगा।'

ऐसी बात नहीं थी कि वह ताश का खेल बिलकुल न जानती हो। थोड़ी देर बाद जब हम लोग खेलने लगे तो मैं ने पाया कि ऐसा नहीं है कि बुढ़िया को उलझाये रखने के लिए या समय काटने के लिए ही हम लोग ज़बरदस्ती खेल रहे हैं। खेल अपने-आप चल निकला था। लेकिन एकाएक बुढ़िया की ओर से पत्ता फेंकने में देर होने पर मैं ने आँख उठा कर देखा—पत्ता खींचते-खींचते वह सो गयी थी, यद्यपि पत्तों पर उस की पकड़ ढीली नहीं हुई थी। मैं चुपचाप बैठी रही। अगर उस के हाथ से पत्ते फिसल रहे होते तो ले कर समेट देती, लेकिन इस हालत में पत्ते लेने की कोशिश से वह जाग जाती। मैं किंकर्तव्यविमूढ़-सी उस के चेहरे की ओर देखती रही। साधारणतया मैं उस की ओर प्रायः नहीं देखती, क्योंकि मुझे डर लगा रहता है कि कहीं मेरी आँखों में कोई छिपा हुआ विरोध-भाव उसे न दीख जाय; क्या फ़ायदा, जब इस क़ब्र-घर में जितने दिन साथ रहना है रहना ही है....

अब उस का चेहरा देखते-देखते एकाएक मुझे लगा कि वह बड़ा दिलचस्प चेहरा है, जिसे देर तक देखा जा सकता है। लेकिन अनदेखे ही, क्योंकि बुढ़िया से आँख मिलने पर शायद सब-कुछ बदल जाता।

चेहरे की हर रेखा में इतिहास होता है और आण्टी सेल्मा का चेहरा जिन रेखाओं से भरा हुआ है वे सब केवल बर्फ़ानी जाड़ों की देन नहीं हैं। लेकिन क्या मैं उस इतिहास को ठीक-ठीक पढ़ सकती हूँ ? आँखों की कोरों से जो सेवाएँ फूटती हैं और एक जाल-सा बना कर खो जाती हैं, उन में कहीं बड़ी

करुणा है—एक कर्मशील करुणा, जो दूसरों की ओर बहती है, ऐसी करुणा नहीं जो भीतर की ओर मुड़ी हुई हो और दूसरों की दया चाहती हो। लेकिन नासा के नीचे और होठों के कोनों पर जो रेखाएँ हैं वे इस करुणा का खण्डन न करती हुई भी और ही कुछ कहती हैं''''मेरी आँखें सारे चेहरे पर घूम कर फिर बुढ़िया की बन्द आँखों पर टिक गयीं। अगर उस की पलकें पारदर्शी होतीं—एक ही तरफ़ से पारदर्शी, जिस से कि बुढ़िया तो सोयी रहती पर मैं उस की आँखों में झाँक सकती—तो मैं शायद इस पहेली का उत्तर पा लेती। उन आँखों से पूछ लेती कि बुढ़िया के जीवन का रहस्य क्या है—क्या बात है उस के अनुभव-संचय में जिस तक मैं पहुँच नहीं पाती हूँ!

कि एकाएक मैं ने जाना कि बुढ़िया की आँखें खुली हैं। बिना हिले-डुले अनायास भाव से वे खुल गयी थीं और भरपूर मेरी आँखों में झाँक रही थीं। मैं ने सकपका कर आँखें नीची कर लीं।

बुढ़िया ने मानो मुझे असमंजस से उबारते हुए कहा: 'मैं सो गयी थी! मुझे माफ़ करना।' और उस ने हाथ का पत्ता खेल दिया।

बात इतनी ही थी। लेकिन न जाने क्यों मुझे लगा कि वह सोयी हुई नहीं थी। नींद में—चाहे कितनी भी हलकी नींद में—स्नायु कुछ-न-कुछ ढीले होते ही हैं और उन की शिथिलता पहचानी जा सकती है। लेकिन बुढ़िया में कहीं भी उस का कोई लक्षण नहीं दीखा था—वह मानो एकाएक कहीं ग़ायब हो गयी थी और फिर लौट आयी थी—और उस में मैं औचक पकड़ी गयी थी!

डा. ... रेवती
... रेवती स्मारक
...

२१ दिसम्बर :

आज फिर वैसा ही हुआ। बुढ़िया ने एकाएक आँखें बन्द कर लीं और मुझे लगा कि वह सो गयी है। लेकिन मैं दुबारा पकड़ी जाने को तैयार नहीं थी। मैं ने उस के चेहरे पर आँखें नहीं टिकायीं, कनखियों से ही बीच-बीच में देखती रही। लेकिन मुझे लगा कि आण्टी का चेहरा सफ़ेद पड़ गया है। मुझे यह भी लगा कि अगर मैं साहस कर के आँख उठा कर देख सकूँ तो पाऊँगी कि उस की पलकें सचमुच पारदर्शी हैं—बल्कि शायद सारी त्वचा ही पारदर्शी है।

जब देर तक वह नहीं जागी तो मैं ने हिम्मत कर के आँखों से नीचे तक के उस के चेहरे की ओर देखा। चेहरा निश्चल ही था, लेकिन मुझे लगा कि होंठ न केवल शिथिल नहीं हुए हैं बल्कि थोड़ा और कस गये हैं। और गले में एक ओर रह-रह कर एक स्पन्दन भी होता जान पड़ा—मानो शिराएँ खिंचती हैं और फिर ढीली हो जाती हैं, फिर खिंचती हैं और फिर ढीली हो जाती हैं। यह तो शायद नींद नहीं है; और बोलना उस में बाधा देना भी नहीं होगा""मैं ने एकाएक पूछा : 'तबीयत तो ठीक है आण्टी ?'

आण्टी ने बिना हिले-डुले आँखें खोल कर कहा : 'हाँ, मैं बिलकुल ठीक हूँ—यों ही थोड़ी शिथिलता आ जाती है।'

मैं चुप रही। थोड़ी देर बाद आण्टी थोड़ा हिलीं और फिर कुरसी में ही अपनी बैठक बदल कर पूरी तरह जाग गयीं।

मैं ने पूछा : 'ओढ़ने को कुछ ला दूँ ?'

उन्होंने मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दिया। बल्कि जो कहा

उस से बिलकुल स्पष्ट था कि बात टाली जा रही है—कि उन्हें यह पसन्द नहीं है कि मैं उन की तरफ़ अधिक ध्यान दूँ।

२१ दिसम्बर :

हम समय की बात करते हैं, जो कि एक प्रवाह है। किस का प्रवाह है ? क्षण का। लेकिन क्षण क्या है ? यह जानने का मेरे पास कोई उपाय नहीं है। एक ढंग है घड़ी के टिक-टिक् से नापने का, उस टिक्-टिक् के और भी खण्ड किये जा सकते हैं और माना जा सकता है कि वैसा छोटा से छोटा खण्ड क्षण है। विज्ञान के तरीक़े दूसरे भी हैं—निरे गणित से सिद्ध किया जा सकता है कि समय का छोटे से छोटा अविभाज्य अंश कितना होता है और उस अंश का भी क्षण कहा जा सकता है।

लेकिन ऐसा विज्ञान और ऐसी जानकारी किस काम की ? हमारे लिए समय सब से पहले अनुभव है—जो अनुभूत नहीं है वह समय नहीं है। सूर्य की गति समय नहीं है, बल्कि उस गति के रहते क्रमशः जो कुछ होता है उस का होते रहना ही समय की माप है। और अनुभव की भाषा में क्षण क्या है ?

समय मात्र अनुभव है, इतिहास है। इस सन्दर्भ में 'क्षण' वही है जिस में अनुभव तो है लेकिन जिस का इतिहास नहीं है, जिस का भूत-भविष्य कुछ नहीं है; जो शुद्ध वर्तमान है, इतिहास से परे, स्मृति के संसर्ग से अदूषित, संसार से मुक्त। अगर ऐसा नहीं है, तो वह क्षण नहीं है, क्योंकि वह काल का कितना ही छोटा खण्ड क्यों न हो उस में मेरा जीना काल-सापेक्ष जीना है, ऐतिहासिक जीना है। वह बिन्दु नहीं है रेखा

है; रेखा परम्परा है और क्षण परम्परामुक्त होना चाहिए।

आण्टी सेल्मा इन बातों को नहीं सोच सकती; नहीं तो मैं उस से इस बारे में बात करती। उस के जीवन में कुछ है जो कि इन सब बातों से बिलकुल अलग है। वह मेरे लिए अजनबी है, लेकिन लगता है कि उस में कछ ऐसा सच है जो मैं ने नहीं जाना है। मेरे सच से बिलकुल अलग और दूसरा सच। सच!... वह सच भी काल-निरपेक्ष नहीं है—सेल्मा भी काल में ही जीती है जैसे कि हम सब जीते हैं, लेकिन वह मानो किसी एक काल में नहीं जीती बल्कि समूचे काल में जीती है। मानो वहाँ फिर काल एक प्रवाह नहीं है, उस में कुछ भी आगे-पीछे नहीं है बल्कि सब एक साथ है। सब एक साथ है, इसी लिए इतिहास नहीं है। इसी लिए स्मृति है, और उस के साथ ही परस्परता से मुक्ति है—सभी कुछ क्षण है।

यह मैं सोचती हूँ; लेकिन साथ ही मुझे लगता है कि ऐसा सोचना बेईमानी है—कि ऐसा हो नहीं सकता। बल्कि कभी-कभी उस को देखते-देखते मेरा अपरिचय का भाव इतना घना हो जाता है कि मेरा मन होता है, उस के कन्धे पकड़ कर उसे झकझोर दूँ और पूछूँ—'तुम कौन हो?' मेरी मुट्ठियाँ भिंच जाती हैं और मैं उस के सामने से हट जाती हूँ क्योंकि मुझे एकाएक अपने-आप से डर लगने लगता है। न जाने क्या कर बैठूँ!

२२ दिसम्बर :

विश्वास नहीं होता कि मुझे यहाँ दबे-दबे एक पखवाड़ा हो गया है। रसोई और भण्डार-घर की दीवारों से थोड़ा-थोड़ा पानी रिस कर अन्दर आता रहा है और अब हम बहुत-सी

चीज़ें बड़े कमरे में ही उठा लाये हैं। भण्डारे से एक छोटा किवाड़ उधर को खुलता है जिधर लकड़ियों का ढेर रखा रहता है। लकड़ियाँ लाने के लिए रास्ता बाहर से है, जो कि अब बन्द है। इस किवाड़ को थोड़ा ठेल-ठाल कर एक-दो लकड़ियाँ खींचने का रास्ता बन गया। लकड़ियाँ खींचीं तो किवाड़ तनिक-सा और खुल सका, और इस प्रकार अब थोड़ी-थोड़ी लकड़ियाँ भीतर लाने का मार्ग बन गया है। लकड़ियाँ भीग गयी हैं और किवाड़ खोलने से थोड़ा-थोड़ा पानी भी भण्डारे के अन्दर आता है, लेकिन उस की चिन्ता नहीं है। हम लोग जो कुछ थोड़ा-बहुत खाना पकाते हैं, बैठने के कमरे में बड़े स्टोव पर ही; उसी के सहारे लकड़ियाँ टेक दी जाती हैं जो धीरे-धीरे सूखती रहती हैं। और दूसरे-तीसरे चिमनी भी जला लेते हैं जिस से एक अनोखा लाल-लाल प्रकाश कमरे में फैल जाता है। क़ब्रगाह के अन्दर आग का लाल प्रकाश—क्या यही नरक की आग है? आज मैं एकाएक आण्टी से यही पूछ बैठी। मैं ने कहा: 'इस लाल-लाल आग को देख कर लगता है कि शैतान अभी चिमनी के भीतर से उतर कर क़ब्र में आ जायेगा हम से हिसाब करने!' और बात को हलका करने के लिए एक नक़ली हँसी हँस दी।

आण्टी अगर चौंकी भी तो उन्होंने दीखने नहीं दिया। थोड़ी देर मेरी ओर देखती हुई चुप रहीं और फिर बोलीं: 'चिमनी से उतर कर शैतान नहीं आता, सन्त निकोलस आता है—क्रिसमस को अब कितने दिन हैं?'

मुझे बात वहीं छोड़ देनी चाहिए थी। लेकिन मैं ने ज़िद कर के कहा—'सन्त निकोलस आता होगा वहाँ ऊपर—क़ब्र में थोड़े ही जायेगा।'

बुढ़िया ने पूछा : 'योके, तुम्हारा ध्यान हमेशा मृत्यु की ओर क्यों रहता है ?'

मुझ को हठात् गुस्सा आ गया। मैं ने रुखाई से कहा : 'क्योंकि वही एकमात्र सच्चाई है--क्योंकि हम सब को मरना है।'

कहने को तो कह गयी; पर फिर मुझे क्लेश हुआ। लेकिन साथ-साथ माफ़ी माँगते भी नहीं बना; मैं ने कहा : 'इतने दिनों की निष्क्रियता से मेरी नर्व्ज़ ऐसी हो गयी हैं कि—'

बुढ़िया ने बात को वहीं छोड़ दिया। जितनी परोक्ष मैं ने उस की याचना की थी उतनी ही परोक्ष क्षमा देते हुए कहा : 'लेकिन क्रिसमस को कितने दिन हैं—दावत होगी। सब कुछ मैं बनाऊँगी।'

मैं ने कहा : 'नहीं आण्टी, सोच लें कि क्या-क्या बनेगा—पर बनाऊँगी मैं ही। आप को तकलीफ़ होती है, और मुझे तो काम चाहिए।'

बुढ़िया ने कहा : 'अच्छी बात है....'

फिर सोच लिया गया कि क्या-क्या बनेगा। कल और परसों शायद हम दोनों के पास ही काफ़ी काम रहेगा—यद्यपि इस जगह में क्या कल और क्या परसों ! और क्या क्रिसमस, सिवाय इस के कि एक दिन को हम बड़ा दिन मान लेंगे—एक दिन को नहीं, घड़ी के एक ख़ास चक्कर को !

२४ दिसम्बर :

आधी रात।

क़ायदे से तो इस समय हमें साथ बैठ कर क्रिसमस के

आगमन का अभिनन्दन करना चाहिए था, लेकिन हम लोगों में बिना बहस के ही यह मौन समझौता हो गया था कि रात को देर तक नहीं बैठा जायेगा। एक तो हम दोनों कल और आज के काम से कुछ थक भी गये, दूसरे न जाने क्यों दिन-भर ऐसा लगता रहा कि क्रिसमस की यह ख़ुशी नक़ली या झूठी तो नहीं है लेकिन बहुत ही पतले काँच की तरह इतनी नाज़ुक है कि छूने से ही नहीं, ज़रा-सी आवाज़ से भी टूट जा सकती है— जैसे वायलिन के स्वर से काँच का गिलास चटक सकता है। हम दोनों मानो ऐसे ही पतले काँच की सतह पर बैठ कर हँस रहे हैं; यह एक जादू ही है कि हमारे बैठने से ही वह काँच टूट नहीं गया लेकिन इतना तो निश्चय है कि हिलने-डुलने से टुकड़े-टुकड़े होकर बिखर जायेगा। और जैसे उस काँच के नीचे फिर और कुछ नहीं है, अतल अँधेरा गर्त है जिस में हम गिरेंगे और गिरते चले जायेंगे····बुढ़िया अभी बड़े कमरे में बैठी है। हम लोगों ने क्रिसमसतरु बनाना चाहा था, लेकिन हमारे किसी भी गढ़न्त पर विश्वास करने को तैयार होने पर भी, ईंधन की लकड़ी और डोर से बाँध कर हम ने जो पेड़ बनाया उसे हमारी आँखें स्वीकार न कर सकीं! उतना झूठ हम नहीं निगल सके, और आण्टी ने ही कहा कि 'नहीं, इसे रहने दो!'

फिर थोड़ी देर हम लोग बैठे रहे। मानो किसी के पास कहने को कुछ नहीं था। इसी खाई को भरने के लिए मैं ने सुझाया, खाना ही खा लिया जाय। वह भी हो गया और फिर हम लोग आग के पास बैठ कर आग की ओर ताकते रहे। एक-दूसरे की ओर न ताकने के लिए कितनी अच्छी ओट थी वह आग!

लेकिन फिर भी धीरे-धीरे वह मौन बोझल हो ही आया

और उस की अनदेखी करना असम्भव हो गया।

मैंने पूछा : 'आण्टी, आप को ताश से भविष्य पढ़ना आता है ?'

बुढ़िया ने कहा : 'नहीं, योके ! तुम पढ़ सकती हो ?'

वहाँ से उठने का मौक़ा पाते हुए मैंने कहा, 'मैं ताश लाती हूँ,—आप का भविष्य पढ़ा जाय।'

बुढ़िया ने तनिक मुसकरा कर कहा : 'मेरा भविष्य ! वह पढ़ना क्या आसान काम है !'

मैं ने कहा : 'सभी अपने भविष्य को बहुत अधिक दुर्ज्ञेय और जटिल मानते हैं। उसे जानना चाहने की उत्कण्ठा का ही यह दूसरा पहलू है—जितना ही जानना चाहते हैं उतना ही उसे दुरूह मानते हैं।'

बुढ़िया ने वैसे ही मुसकराते हुए कहा : 'नहीं, मेरे साथ यह बात शायद नहीं है। उस दृष्टि से तो मेरा भविष्य बहुत ही आसान है। कुछ भी जानने को नहीं है—न उत्कण्ठा है।'

'ऐसा कैसे हो सकता है ? अच्छा बताइए, आप क्या यह नहीं जानना चाहतीं कि अगले क्रिसमस पर आप कहाँ होंगी—कैसे होंगी ?'

'नहीं, मैं तो जानती हूँ। मैं—यहीं हूँगी और—ऐसे ही हूँगी।'

मैं थोड़ी देर स्तब्ध रही। यों तो बुढ़िया की बात सच भी हो सकती है। वह यहीं ऐसे ही रहेगी, क्योंकि वर्षों से यहीं ऐसे ही रहती चली आयी है। हो सकता है कि हमेशा से यहीं रहती आयी हो, और हो सकता है कि हमेशा यहीं रहती चली जाय ! इन्हीं पहाड़ों की तरह निरन्तर बदलती हुई, लेकिन अन्तहीन और आकांक्षाहीन !

मैं ने फिर कहा : 'लेकिन और भी बहुत-से लोग हो सकते हैं—'

बुढ़िया ने मेरी बात काटते हुए कहा : 'मैं अकेली हूँगी, योके। अगर यह जानती न होती तो शायद इस वर्ष भी अकेली न रही होती। मैं जान-बूझ कर यहाँ अकेली रह गयी थी—तुम्हारा आना तो एक संयोग था जिस की मैं ने कल्पना नहीं की थी।'

मैं ने कहा : 'आण्टी, आप को क्या मेरा यहाँ रहना कष्ट-कर लगा ?' फिर थोड़ा हँस कर मैं ने जोड़ दिया : 'अगर वैसा है तो मुझे दुःख है, पर मेरी लाचारी है। यह तो मैं कह नहीं सकती कि मैं अभी चली जाती हूँ। वह मेरे बस का होता—'

बुढ़िया ने सहसा गम्भीर हो कर कहा : 'कुछ भी किसी के बस का नहीं है, योके। एक ही बात हमारे बस की है—इस बात को पहचान लेना। इस से आगे हम कुछ नहीं जानते।'

मेरे भीतर फिर घोर विरोध उबल आया। इस को छिपाने के लिए मैं जल्दी से उठ कर चली गयी। खोज में अनावश्यक देर लगा कर जब मैं ताश ले कर आयी और पत्ते बिछाने लगी, तो बुढ़िया चुपचाप मेरी ओर देखती रही। फिर एकाएक उस ने मुझ से पूछा : 'योके, तुम चाहती हो कि मैं मर जाऊँ ?'

पत्ते मेरे हाथ से गिर गये और मैं ने अचकचा कर पूछा : 'क्या—यह कैसी बात है, सेल्मा !' उसे आण्टी कहना भी मैं भूल गयी।

उस ने कहा : 'मैं बुरा नहीं मानती, योके, तुम्हारा वैसा चाहना ही स्वाभाविक है। मैं भी चाहती कि मर जाऊँ, पर मेरे चाहने की तो अब ज़रूरत नहीं है। मैं जानती हूँ कि बहुत दिन बाक़ी नहीं हैं।'

मैं ने सँभलते हुए कहा : 'नहीं आण्टी, अभी ऐसी कौन-सी बात है—तुम तो अभी बहुत दिन—'

'तुम्हारा ऐसा कहना भी स्वाभाविक है—तुम्हें कहना ही चाहिए। लेकिन मैं जानती हूँ। और आज मैं इतनी ख़ुश हूँ कि तुम से कह ही दूँ, जिस से कि कल तक यह बात तुम्हारे लिए पुरानी हो जाय—योके, मैं बीमार हूँ और मुझे मालूम है कि अगला वसन्त मुझे नहीं देखना है।'

थोड़ी देर बाद मैं ने ताश के पत्ते ज़मीन से उठाये और यन्त्र की तरह—एक ख़ास तौर से बेवक़ूफ़ यन्त्र की तरह—उन्हें फेंटती रही....

वह लम्बा बेशऊर सन्नाटा ऐसा नहीं था जिस का क्रिसमस से पहले की रात से कोई सम्बन्ध जोड़ा जा सके। पर वह सारी स्थिति ही ऐसी विसंगत थी। देव-शिशु के आसन्न अवतरण का कोई आनन्द, कोई स्फूर्त्ति मुझ में नहीं थी। आसन्न कुछ लगता था तो दूसरा ही कुछ जिसे मैं देखना नहीं चाहती, जानना नहीं चाहती, नाम देना नहीं चाहती—पर छाती पर रखे हुए बोझ-सी एक ही बात बार-बार अपनी याद दिला जाती थी और गले की साँस गले में अटका जाती थी—कि वहाँ सेल्मा और योके के अलावा एक तीसरा भी है और वह अदृश्य तीसरा देव-शिशु नहीं है...और मानो उसी की धड़कन मैं वातावरण में सुन रही थी और इसलिए उठ नहीं पा रही थी—मुझे लगता था कि उस से वह सहसा मूर्त्त हो जायेगा और तब सेल्मा भी जान लेगी कि उसे मैं ने बुलाया है।...

पर उसे और सहा भी नहीं जा सका। तब मैं ने बलात् अपने को उठाते हुए कहा : 'अब आराम करो, सेल्मा। गुडनाइट।'

सेल्मा ने कुछ चौंक कर मेरी ओर देखा। फिर जो भी वह कहने जा रही थी उसे रोक कर उस ने कहा : 'क्रिसमस मुबारक, योके।'

मैं ने अपने साधारण 'गुडनाइट' पर कुछ सकपकाते हुए उसे धो डालने के लिए कहा : 'क्रिसमस मुबारक, सेल्मा। बहुत से क्रिसमस !' फिर थोड़ा रुक कर : 'चाहिए तो था बैठ कर गाना, पर....'

उस ने मुझे दिलासा देते हुए कहा : 'पर कोई बात नहीं, वह मौन में भी उतनी ही सहजता से आता है—गाना ज़रूरी नहीं है।'

मैं ने फिर जल्दी से कहा : 'क्रिसमस मुबारक !' और जल्दी से चली आयी।

और अब आधी रात।

'वह मौन में थी उतनी ही सहजता से आता है।' वह कौन ? वह—वह,....वही जो सेल्मा और मेरे बीच तीसरा आया था और वहाँ मौजूद था—अनाहूत....

नहीं, नहीं, नहीं ! जो भी आता है, जो भी आयेगा, उसे उधर ही रहने देना होगा...

कहीं पॉल भी क्रिसमस मना रहा होगा—कहाँ, किस के साथ ? अपने खुले गले से गा रहा होगा—क्या वह भी इस समय मुझे याद करेगा—मुझे, जिस के साथ ही इस बर्फ़िस्तान में अकेला होने वह आया था—नथुने फुलाकर खुली बर्फ़ीली हवा को पीने, और पीते-पीते अनुभव करने कि हमारे भीतर कैसी स्निग्ध गरमाई है—स्निग्ध, मधुर, स्फूर्तिमय और—हमारी...

पर वह बर्फ़िस्तान के ऊपर है। खुली हवा में, न जाने किस के साथ; और मैं—यहाँ हूँ, बर्फ़िस्तान के नीचे, घुटन में, और मेरे साथ है वह, वह, वह....

२५ दिसम्बर :

वहीं पलंग पर बैठी और मेज़ पर सिर टेके मैं सो गयी थी—शायद पहले थोड़े आँसू आँखों में चुभे थे धुएँ की तरह, फिर न जाने कब ऊँघ गयी थी फिर चौंक कर जागी थी गाने की आवाज़ सुन कर : घड़ी देखी थी तब डेढ़ बजा था। सेल्मा धीरे-धीरे गा रही थी—गुनगुनाहट से कुछ ही ऊँचे स्वर से—देव-शिशु के आविर्भाव की ख़ुशी का एक गान। वह बहुत देर पहले से गाती रही हो, ऐसा तो नहीं लगा—शायद बीच-बीच में गाती भी रही हो—नींद उसे न आती होगी और घड़ी तो उस के पास है नहीं....

उस सन्नाटे में, रुक-रुक कर आता हुआ बूढ़ा गान सुन कर न जाने कैसा लगने लगा। बीच-बीच में बुढ़िया की आवाज़ मानो टूट जाती—मानो वह हाँफ रही हो, मानो उस की बूढ़ी साँस उखड़ रही हो। फिर वह आवाज़ के साथ एक ज़ोर की साँस खींच कर फिर गाना शुरू कर देती और थोड़ी देर बाद मानो एक कराह-सी में तान फिर टूट जाती।

सूना कमरा मानो किसी दबाव से घुटने लगा। मैं उठ बैठी और नंगे पाँव ही धीरे-धीरे बुढ़िया के पलंग के पास गयी।

बुढ़िया उकड़ूँ बैठी थी। होठों की गति के सिवाय किसी गति के लक्षण उस की देह में नहीं जान पड़ रहे थे। उसे देखती हुई मैं भी उस के कन्धे की ओट निश्चल खड़ी रही,

लेकिन न जाने कैसे उसे ज्ञात हो गया कि कमरे में दूसरा कोई है—दूसरा कोई क्या, कि मैं हूँ—और उस ने बिना मुड़े हुए ही कहा : 'मैं अवतरण का गीत गुनगुना रही थी—बचपन की याद से—लेकिन मैं ने क्या तुम्हें जगा दिया ?'

मैं ने कहा : 'नहीं आण्टी, मुझे नींद नहीं आ रही थी तभी मैं ने आवाज़ सुनी और देखने चली आयी—शायद कुछ ज़रूरत हो।'

बुढ़िया ने कहा : 'मेरी ऐसी भी हालत होगी कि मैं गाऊँ तो कोई समझेगा कि मुझे तकलीफ़ है—कि मुझे किसी चीज़ की ज़रूरत है ! लेकिन हाँ, बहुत ज़रूरत है—और हाँ, तकलीफ़ भी है। लेकिन गाती हूँ ख़ुशी से ही—बैठो, तुम भी गाओगी ?"

'वह गाना तो मुझे नहीं आता।'

'तो जो आता है वही गाओ। शायद मैं भी गा सकूँ—मेरे सब गाने बचपन के ही नहीं हैं, बाद में भी कुछ सीखे थे।'

मैं बैठ गयी। लेकिन बहुत कोशिश करने पर भी मुँह से बोल नहीं निकला। सारी परिस्थिति में कहीं कुछ बहुत ही बेठीक लगा। जैसे अवतरण की बात भी ग़लत है और उस के गाने गाना भी ग़लत। अवतरण अगर हुआ है तो मृत्यु का और वह मृत्यु ऐसी नहीं है कि गाने से उस का स्वागत किया जाय ! वह मेरे कन्धों पर सवार हो कर मेरा गला घोंट रही है। कैसा बेपनाह है वह पंजा, जो छोड़ेगा नहीं लेकिन किस की उँगलियों की छाप भी नहीं पड़ेगी ! मैं ने कल्पना की, मेरे हाथ बुढ़िया के ग़ले पर हैं और उसे घोंट रहे हैं—बेपनाह हाथ—नहीं जानती कि उन की पकड़ भी ऐसी है या नहीं कि कोई छाप न छोड़े; लेकिन बुढ़िया के गले की रक्तहीन पारदर्शी त्वचा तो पहले ही ऐसी है कि उस पर कोई छाप क्या पड़ेगी !

थोड़ी देर बाद बुढ़िया ने कहा : 'नहीं, यह मेरा अत्याचार है। मैं तो गा सकती हूँ क्योंकि मैं अन्धी हूँ। अन्धे अच्छा गाते हैं। तुम तो सब कुछ देखती हो—तुम्हें दृश्य ही अधिक अच्छे लगते हैं, स्वर नहीं। तुम्हें ठंड लग रही होगी, जाओ सोओ। भगवान् तुम्हारा कल्याण करे। क्रिसमस मुबारक !'

मैं ने यन्त्रवत् दोहराया : 'क्रिसमस मुबारक !' और लौट आयी।

फिर मैं सोयी नहीं। बुढ़िया भी शायद नहीं सोयी। गाना तो उस ने बन्द कर दिया। लेकिन बीच-बीच में एक बहुत ही धीमी हुंकार-सी सुनाई पड़ती, जो न मालूम साँस के कष्ट की थी, या कि बीच-बीच में याद आ जाने वाले गाने की, या कि कराहने की।

सवेरा हुआ—घड़ी का सवेरा। प्रकाश कुछ भी बढ़ता हुआ नहीं लगा बल्कि कमरे में कुछ घुटन-सी मालूम हुई—मानो जितनी हवा हमारे साथ इस क़ब्र-घर में क़ैद हो गयी थी उस में से ऑक्सीजन वाला अंश हम लोग पी चुके हैं। तुझे ध्यान आया, ऑक्सीजन ही हमें जीवित रखती है लेकिन वही हमें गलाती भी है—जीना ही जीर्ण होना है और जब जीने का साधन ऑक्सीजन नहीं रहती तब जीर्ण होने की क्रिया भी रुक जाती है। इस क़ब्रगाह में हमारी पैदा की हुई कार्बन गैस, जो हमें मार देगी, आगे उस क़ब्रगाह में सड़ने से हमें बचाती है ! फिर—हमारे मर जाने के बाद इस 'फिर' के अर्थ क्या हैं यह तो मैं नहीं जानती !—जब बर्फ़ गलेगी और लोग हमें ढूँढ़ने आयेंगे तब हम यहीं ज्यों के त्यों सुरक्षित पड़े होंगे—मैं ऐसी

ही यहाँ—तब भी समूची किन्तु कान्तिहीन—और बुढ़िया वहाँ, वैसी ही विवर्ण पारदर्शी, और इस लिए तब भी एक कान्ति लिये हुए! इस कल्पना से मुझे बुढ़िया पर फिर ग़ुस्सा हो आया। पर मैं ने अपने को याद दिलाया कि आज क्रिसमस का दिन है, बड़ा दिन, क्षमा और सद्भावना का दिन। उस की बूढ़ी साँसें मुझ से कहीं कम ही ऑक्सीजन खाती होंगी—बल्कि जिस बहुत नीचे स्तर पर उस का जीवन चल रहा है उस पर तो शायद बिना ऑक्सीजन के ही काम चल सकता हो! मैं ने सुना है कि जो लोग बर्फ़ के नीचे दब जाते हैं, उन की ऑक्सीजन की ज़रूरत भी बहुत कम हो जाती है और इस लिए उन का उतनी से भी काम चल जाता है जितनी बर्फ़ के कणों में बँधी हुई होती है।....

बड़ा दिन। क्षमा, शान्ति और मानवीय सद्भावना का दिन। प्यार के पैग़म्बर का जन्म-दिन। मैं ने आयासपूर्वक अपने स्वर में स्फूर्ति लाकर कहा: 'क्रिसमस मुबारक आण्टी सेल्मा!'

जो जवाब आया उससे मैं चौंकी। आण्टी ने कहा: 'मैं ने तो आग जला दी है और कहवा बना लिया है, आओ। क्रिसमस मुबारक!'

यह सब बुढ़िया ने कब कर लिया? मैंने तो पैरों की कोई आहट नहीं सुनी। न बरतनों की खनक। बुढ़िया बहुत ही चुपचाप काम करती है। लेकिन और नहीं तो उस के पैरों के घिसटने का थोड़ा-सा शब्द होता। मैं तो यही समझती रही कि मैं लगातार उस का कराहना सुनती रही हूँ!

नाश्ता करते-करते—नाश्ता तो मैंने ही किया, आण्टी ने कुछ नहीं खाया, और कहवे में भी थोड़ा पानी मिला कर दो-

चार घूँट पिये—आण्टी ने कहा : 'मैं कल्पना कर रही हूँ कि बाहर ख़ूब खुली धूप है—बड़ी निखरी हुई स्निग्ध धूप, जिस के घाम में बदन अलसा जाय !'

मैं ने कहा : 'ऐसी कल्पना से फ़ायदा ? और बाहर धूप हो भी तो हमें क्या जो—'

'हमें क्यों नहीं कुछ ? जो हमारे भीतर नहीं है वह हम बाहर कैसे दे सकते हैं—कैसे देना चाह सकते हैं ? खुली, निखरी हुई, स्निग्ध, हँसती धूप—मैं बाहर उस की कल्पना करती हूँ तो वह मेरे भीतर भी खिल आती है और मैं सोच सकती हूँ कि मैं उसे औरों को दे सकती हूँ। नहीं तो—कितना ठंडा अँधेरा होता है उस के भीतर, जिसे मरना है और सिवा मरने के और कुछ नहीं करना है।'

मैं ने कुछ झिड़क कर कहा : 'क्रिसमस के दिन कैसे ऐसी बात कर सकती हो तुम आण्टी ?'

आण्टी ने बड़े सरल सहज भाव से कहा : 'मुझे कैन्सर है।'

जो सन्नाटा हम दोनों के बीच में आ गया उस के पार मानो कमन्द फेंकते हुए बुढ़िया ने फिर कहा : 'धूप, खिली, खुली, हँसती हुई धूप—क्रिसमस के दिन की धूप ! योके, मेरा तो इतना दम नहीं है—तुम क्यों नहीं गातीं—तुम्हारा तो गला इतना सुरीला है।'

मैं ने कहना चाहा, अभी तो तुम कह रही थीं कि जो भीतर नहीं है वह बाहर कैसे दिया जा सकता है ? लेकिन यह मुझ से कहते न बना। मैं ने कहा : 'गाऊँगी, आण्टी सेल्मा, गाऊँगी। पहले मुझे इस अँधेरी क़ब्रगाह का आदी तो हो जाने दो।'

बुढ़िया ने दोहराया : 'आदी।' और फिर हाथों से एक

ऐसा इशारा किया जिस का अर्थ कुछ भी हो सकता था।....

३० दिसम्बर :

अब मुझ से और नहीं सहा जाता। सोचती हूँ कि यह कैसी परिस्थिति आ गयी है कि मुझे सब ओर बर्फ़ का भी ध्यान नहीं रहा है—कि मैं यह भी भूल गयी हूँ कि हम दोनों एक ही क़ब्र के साझीदार हैं! और सोचती हूँ तो केवल एक ही बात—कि अब साझीदार कब हट जायेगा, और मैं इस क़ब्र में अकेली रह जाऊँगी!

यह नहीं कि मैं क़ब्र में रहना चाहती हूँ। यह नहीं कि मैं अकेली अलग होना चाहती हूँ। शायद यह भी नहीं कि मैं नहीं चाहती कि वह भी कभी इस क़ब्र-घर से बाहर निकले। लेकिन मैं जानती हूँ कि उस के बारे में मेरे कुछ भी चाहने या न चाहने से कुछ नहीं होता है। मैं ही नहीं, वह भी यह जानती है।

और ठीक यहीं पर फ़र्क़ है। वह जानती है और जानकर मरती हुई भी जिये जा रही है। और मैं हूँ कि जीती हुई भी मर रही हूँ और मरना चाह रही हूँ।....

उस में किसी तरह का विरोध नहीं है—न मेरे प्रति, न मेरे हिंस्र भावों के प्रति, न मृत्यु के ही प्रति। और यह मेरी समझ में नहीं आता, मुझे स्वीकार नहीं होता। कैसे कोई जीता हुआ प्राणी जिजीविषा से परे हो सकता है? हम सब कुछ से अनासक्त हो सकते हैं, पर जीवन से कैसे हो सकते हैं? कहीं-न-कहीं ज़रूर बुढ़िया में कोई झूठ है। कोई आत्म-प्रवंचना है। हो सकता है कि वह गहरे में छिपी हो—लेकिन यह नहीं हो

सकता कि वह हो ही न।····

उस को बीमारी शायद दिन-दिन बढ़ती जा रही है, वह कुछ खाती नहीं है और लगभग पीती भी नहीं है, और दिन-दिन अधिक विवर्ण और पारदर्शी होती जाती है। जीता-जागता प्रेत। इस में भी शायद उतना विरोधाभास नहीं है—लेकिन ठोस प्रेत! और उस से भी अधिक अस्वीकार्य और असह्य है उस ठोस प्रेत का कारुण्य भाव—एक बाहर को बहता हुआ, सब-कुछ को सहलाता हुआ कारुण्य! प्रेत किसी पर तरस कैसे कर सकता है? बल्कि प्रेत होता वही है जो अपने पर तरस खाते हुए मरता है—नहीं तो प्रेत-योनि में कोई जा ही नहीं सकता! प्रेत होने के लिए अतृप्त वासना या आकांक्षा काफ़ी नहीं है। ऐसे अतृप्त तो दुनिया में सभी मरते हैं, तो क्या सभी प्रेत हो जाते हैं? लेकिन जो अतृप्त आकांक्षा अपने ही पर तरस खाने की प्रवृत्ति पैदा करती है, जिस में पैदा करती है, वही प्रेत होता है। लेकिन बुढ़िया की दया अपनी ओर मुड़ी हुई नहीं है। और कभी-कभी मुझे लगता है कि वह प्याला-तश्तरी भी उठाती है, या कि आग की ओर भी हाथ बढ़ाती है, तो मानो इन निर्जीव चीज़ों को भी दुलारती और असीसती है। आग को असीसती है—वह, जिसे आग को देख कर रिरियाना चाहिए, क्योंकि अभी उस के भीतर की आग बुझ जायेगी और वह हो जायेगी-क्या? राख-राख से भी कम! उसे देखते-देखते मेरा मन होता है कि ज़ोर से चीखूँ, कि जलती हुई लकड़ी उठा कर उस की कलाइयों पर दे मारूँ जिस से उस का आग को असीसने का दुस्साहस करने वाला हाथ नीचे गिर जाय—एकाएक जिस के सदमे से उस की हृद्गति बन्द हो जाय!

३१ दिसम्बर :

उस के सामने ही नहीं, अपने सामने भी कभी मेरा मन होता है कि चीख़ पड़ूँ, कि अपने बाल नोच लूँ, कि आइने के सामने खड़ी हो कर अपने को मारूँ, छोटी क़ैंची उठा कर अपने गालों में चुभा लूँ, कि नहेरने से अपने माथे, नाक-कान, ठोड़ी पर घाव कर लूँ—कि पानी का जग उठा कर आइने पर पटक कर उस के और आइने के भी टुकड़े-टुकड़े कर दूँ! आइने के भी और उस में झाँकते हुए अपने प्रतिरूप के भी जो इतनी बेहयाई से मुझे ताकता है और मेरी सब अराजक जिघांसाएँ वापस मेरे मुँह पर मारता है।....

उस को वहीं बैठी छोड़ कर मैं चली आयी थी और अपने बिस्तर पर बैठी रही थी। काफ़ी देर बाद, सोने की तैयारी करने से पहले मैं ने झाँक कर देखा तो वह ज्यों की त्यों बैठी थी, इतनी देर में हिली भी नहीं थी। वैसे तो आज रात देर तक जागने का अवसर था, क्योंकि आधी रात को नये साल का अभिनन्दन करने का क़ायदा है; लेकिन मैं ने उस की कोई चर्चा नहीं की थी और क्रिसमस के लिए उत्साह दिखाने वाली बुढ़िया ने भी देर तक जागने का प्रस्ताव नहीं किया था। इसी लिए मैं सोने चली आयी थी। पर वह तो बैठी है। न मालूम जाग रही है या सो रही है—न मालूम होश में भी है या कि बेहोश है—पर निश्चल बैठी है! मैं ने जा कर कहा : 'आण्टी सेल्मा, चलो सोओ। मैं सुला दूँ?'

आण्टी सेल्मा ने सिकुड़ते कन्धे थोड़े सीधे करते हुए कहा : 'नहीं योके, मैं अभी बैठी हूँ—तुम सो जाओ।'

मैं ने कहा : 'नये साल का अभिनन्दन करने बैठी हो ?'

उस ने कहा : 'हाँ ! या कि शायद सिर्फ़ नये दिन का। क्योंकि साल का कोई भी दिन किसी दूसरे दिन से किस बात में कम है ! बल्कि मैं तो सोच सकती हूँ कि कोई भी दिन साल का दिन क्यों है—दिन ही में क्या कम जादू है ?'

बात पूरी की पूरी मुझ से नहीं कही गयी थी, बहुत कुछ स्वगत ही थी। पर मुझे ये सब बारीक बातें उस समय नहीं रुचीं। मैं ने कुछ रुखाई से कहा : 'हाँ, लेकिन रोज़-रोज़ तो तुम जागरण नहीं करती हो।'

उस ने कहा—'मुझे माफ़ कर दो, योके, मुझ बुढ़िया की सब बातें संगत नहीं होतीं—कुछ यों भी मुँह से निकल जाती हैं।'

उस के स्वर में जो चिड़चिड़ापन था, उफ़ ! उस से मुझे कितनी तृप्ति मिली ! तो बुढ़िया का कवच भी नीरन्ध्र नहीं है; कहीं उस में भी टूट है—कहीं-न-कहीं वह भी मृत्यु से डरेगी और रिरिया कर कहेगी कि नहीं, मैं मरना नहीं चाहती ! एक प्रबल, दुर्दमनीय उल्लास, एक विजय का गर्व मेरे भीतर उमड़ आया। मैं ने कहा : 'आण्टी, तुम क्यों बैठ कर माला के मनकों की तरह दिन और घड़ियाँ गिनती हो ? दिन जिस गति से जायेंगे उसी से जायेंगे—न गिन कर हम उन्हें आगे ठेल सकते हैं, न झींक कर रोक सकते हैं। जो काम करना है करते चलो। जीना है जीते चलो, बस !

उस ने कहा : 'हाँ, वह तो है। माला के मनके ही गिन रही हूँ। यह नहीं कि उस से कुछ बदलेगा। लेकिन जिसे माला के मनके ही गुनने हों उसे वैसा न करने का बस कहाँ है ?'

'किस के लिए क्या तय है, इस का निश्चय अपने-आप

करने चलना क्या भगवान् को अपने ऊपर ओढ़ लेना नहीं है ?' मैं ने कोशिश की कि मेरे मन में व्यंग्य का भाव जितना तीखा था प्रकट उतना न हो; लेकिन व्यंग्य उसे दीखे ही नहीं, यह मैं बिलकुल नहीं चाहती थी।

बुढ़िया एकाएक खड़ी हो गयी। उस का खड़ा होना भी उस समय मेरे लिए बिलकुल अप्रत्याशित था, पर उस ने जो कहा वह मुझे अब भी अघटित लग रहा है। उस ने कहा : 'हाँ योके, मैं भगवान् को ओढ़ लेना ही चाहती हूँ। पूरा ओढ़ लेना कि कहीं कुछ भी उघड़ा रह न जाय। तुम नहीं जानतीं कि जिसे माला की मणि तक नहीं पहुँचना है उस के लिए एक-एक मनके का रूप कितना दिव्य होता है।'

उस ने अपने पारदर्शी हाथ मेरे कन्धों पर रख दिये और कहा : 'देखो योके, मेरी आँखों में देखो। क्या तुम्हें नहीं दीखता कि भगवान् के सिवा मेरे पास कुछ नहीं है ओढ़ने को !'

मैं जल्दी से कन्धे छुड़ा कर लौट आयी। जहाँ उस के हाथ पड़े थे वहाँ अब भी बर्फ़ की दो कटारें-सी मुझे चुभ रही हैं।

लेकिन उधर शायद बुढ़िया ने कुछ गुनगुनाना शुरू कर दिया है। वह स्वर गाने का नहीं है—शायद कोई प्रार्थना दुहरा रही है।

उफ़, कब फटेगी यह क़ब्र, या कि कब निकलेगी यह बेशर्म जान,—उस की, या मेरी या दोनों की !····

५ जनवरी :

फिर वही एकरूपता, एकरसता····अब लगता है कि इस डायरी का सहारा भी छूट जायेगा। क्योंकि इस में भी लिखने

डा. दिल्ली रमण रेग्मी
... रेग्मी ...
...
२६४६

को कुछ नहीं है, दोहराने को ही है। फिर एक दिन, फिर एक दिन, घड़ी का एक और चक्कर और फिर एक और चक्कर।....

नये साल के दिन जब मैं ने फिर सवेरे-सवेरे सेल्मा को गाते सुना तो मुझे क्रोध हो आया। सवेरे किसी तरह अपने पर ज़ोर डाल कर मैं ने औपचारिक ढंग से उसे नये साल की बधाई दे दी और उस की बधाइयों के लिए धन्यवाद दे दिया। फिर उस के बाद दिन-भर हम लोग कुछ अजनबी-से रहे। यों इस के सिवा कुछ हो भी नहीं सकता, क्योंकि वह एक बार उठ कर कुरसी पर बैठ जाती है तो फिर वहाँ से बहुत ही कम हिलती-डुलती है। केवल नितान्त आवश्यकता होने पर ही वहाँ से उठती है। और मैं, मैं बाहर तो जा नहीं सकती, मुझे यहीं अपनी मांस-पेशियों को चालू रखने के लिए इधर-उधर जाना पड़ता है—तीन कमरों के इस घर में न जाने कितने चक्कर काट कर तब कहीं यह सन्तोष पा सकती हूँ कि हाँ मेरी पेशियाँ अब भी मेरे ही वश में हैं—अपनी इच्छा से हाथ-पैर हिला सकती हूँ, मुट्ठियाँ भींच सकती हूँ, किसी चीज़ को हाथों में जकड़ सकती हूँ, ईंधन की लकड़ियाँ उछाल सकती हूँ, और अगर कभी इस क़ब्र-घर से निकलने का अवसर आया तो सीधी चल भी सकूँगी—हाँ, अगर क़यामत के दिन किसी फ़रिश्ते के सामने जा कर खड़े होने के लिए ही यहाँ से निकलना हुआ तब भी सीधी खड़ी हो सकूँगी।....

लेकिन सेल्मा के बीच के कमरे में कुरसी पर बैठे रहते ही यह भी आसान नहीं है। मैं दबे पैरों ही इधर-उधर आती-जाती हूँ; निरन्तर मुझे सतर्क रहना पड़ता है। उस की उपस्थिति को कभी क्षण-भर के लिए भी नहीं भूल सकती हूँ। यहाँ तक कि अपनी उपस्थिति का अनुभव करने का ही मौक़ा मुझे नहीं

मिलता जब-तक कि मैं रात को अपने पलंग पर अकेली नहीं हो जाती! मानो इस घर में वही वह है, मैं हूँ ही नहीं, जब कि जीती मैं हूँ और जीने की ज़रूरत भी मुझे है! और वह— तो जीने-न-जीने की सीमा-रेखा पर अर्द्धमूर्छित ऐसे बैठी है कि यह भी नहीं जानती कि वह कहाँ पर है।....

कैसे, जो जीवित नहीं हैं वे उन पर इतना कड़ा शासन करते हैं जो जीवन से छटपटा रहे हैं!

लेकिन कल तो थोड़ा-सा परिवर्तन हुआ था। कहना चाहिए कि कल सवेरे ही पहली बार ऐसा हुआ कि इस क़ब्र में कुछ घटित हुआ।

मैं सवेरे रसोई-घर की ओर जाने के लिए बैठने का कमरा पार करने को जा रही थी कि मैं ने चौंक कर देखा, सेल्मा अपनी कुरसी पर बैठी है। एक बार तो उसे देख कर ऐसा लगा कि वह रात-भर वहीं बैठी रही है, बल्कि उस कुरसी का अंग ही है और सनातन काल से वहीं पड़ी है। क्या वह रात-भर सोयी नहीं? मुझे याद था कि रात को जब मैं सोने जाने के लिए मुड़ी थी तब वह भी अपने कमरे की ओर चली गयी थी। लेकिन उस के बैठने की मुद्रा से पल-भर मुझे अपनी स्मृति पर ही सन्देह हो आया। मैं पूछने ही जा रही थी कि बुढ़िया ने कहा: 'तुम्हारे लिए कहवा बना कर रसोई में रख दिया है, मैं पी चुकी हूँ। और कुछ नहीं खाऊँगी।'

यह कुछ असाधारण तो था, लेकिन एकदम अनहोना भी नहीं था—पहले भी कभी-कभी वह मेरी प्रतीक्षा किये बिना नाश्ता कर लेती थी। मैं चुप-चाप रसोई में चली गयी। मेरे

डा. बिल्ली रमण रेखी
क्याणी रेखी स्मारक
पुस्तकालय

लिए नाश्ता लगा हुआ रखा था। बरतन धोने की बेसिनी में कोई जूठे बरतन नहीं थे। क्या बुढ़िया ने अपना तश्तरी-प्याला धो कर भी रख दिया, या कि उस ने कुछ खाया ही नहीं है ?

मैं ने लौट कर बुढ़िया से पूछा : 'तुम ने सचमुच नाश्ता कर लिया है ? मुझे तो कोई कहीं लक्षण नहीं दीखते !'

'मुझे जितनी ज़रूरत है, उतना मैं ने ले लिया।'

मैं लौट गयी। नाश्ता कर के मैं ने बरतन धो कर रख दिये।

न जाने क्यों मेरा मन इस बात पर कुढ़ता रहा कि उस ने मेरे लिए नाश्ता बना कर रख दिया था और स्वयं शायद कुछ नहीं खाया था। फिर बैठक में जा कर मैं ने कहा : 'आण्टी, मेरे लिए कष्ट करने की ज़रूरत नहीं है, ख़ास कर जब तुम्हें ख़ुद कुछ भी न लेना हो।'

'मैं ने कहा तो, कि जितनी मुझे ज़रूरत थी मैं ने ले लिया।'

मैं ने कुछ चिड़चिड़े स्वर में कहा : 'क्या ले लिया था ? एक प्याला गरम पानी ?'

मैं चिड़चिड़े स्वर से बोली थी, लेकिन मुझे नहीं लगता कि मैं ने ऐसा कुछ कहा था जिस पर वह इतनी बिगड़ खड़ी हो।

वह बोली : 'हाँ, एक प्याला गरम पानी। बल्कि तुम सच ही जानना चाहती हो तो आधा प्याला गरम पानी। मैं ने तुम से कह दिया कि जितनी मुझे ज़रूरत थी मैं ने ले लिया। मैं क्या खाती-पीती हूँ इस से तुम्हें क्या मतलब है ? तुम यहाँ मेहमान हो, लेकिन इस से—'

मैं सन्न रह गयी। क्या यह सेल्मा ही बोल रही है ?....

फिर मैं ने किसी तरह रुकते-रुकते कहा : 'ठीक है, मैं पूछने वाली कोई नहीं होती। लेकिन स्वतन्त्रता मुझे भी

चाहिए। यहाँ मैं अपनी इच्छा से क़ैद नहीं हुई, और न बीमार आदमी से सेवा ले कर स्वस्थ आदमी अपने को स्वतन्त्र महसूस कर सकता है।'

मैं नहीं जानती कि यह बात उसे तकलीफ़ देने के लिए ही कही थी या नहीं। फिर भी उसे ज़रूर बहुत तकलीफ़ हुई होगी, क्योंकि उस ने कहा: 'मेरी बीमारी की बात बार-बार दोहराने की ज़रूरत नहीं है—मैं जानती हूँ कि मैं बीमार हूँ। मैं क्या जान-बूझ कर हुई हूँ, या कि तुम्हें सताने के लिए बीमार हुई हूँ? और स्वतन्त्रता—कौन स्वतन्त्र है? कौन चुन सकता है कि वह कैसे रहेगा, या नहीं रहेगा,? मैं क्या स्वतन्त्र हूँ कि बीमार न रहूँ—या कि अब बीमार हूँ तो क्या इतनी भी स्वतन्त्र हूँ कि मर जाऊँ? मैं ने चाहा था कि अन्तिम दिनों में कोई मेरे पास न हो। लेकिन वह भी क्या मैं चुन सकी? तुम क्या समझती हो कि इस से मुझे तकलीफ़ नहीं होती कि जो मैं अपनों को भी नहीं दिखाना चाहती थी उसे देखने के लिए—भगवान् ने—एक—एक-अजनबी भेज दिया?'

थोड़ी देर चुप रहकर उस ने कहा: 'मुझे माफ़ करो, योके, थोड़ी देर मेरे पास से चली जाओ! मैं ने तुम्हें साक्षी नहीं चुना और भरसक कोशिश करूँगी कि तुम्हें कुछ न देखना पड़े —जितने पर मेरा वश नहीं उतना तो तुम मुझे क्षमा कर दो!'

क्यों उसे तकलीफ़ होती देख कर मुझे सन्तोष होता है? लेकिन तकलीफ़ तो शायद उसे बराबर रहती है—क्यों उसे तकलीफ़ से टूटते हुए देख कर मुझे तसल्ली होती है? कितना कमीना है यह सन्तोष, जो दूसरों को हारते और टूटते हुए देख कर होता है—क्या यह एक अत्यन्त विकृत ढंग की जिजीविषा नहीं है!

लेकिन क्या मेरा यह मानना ही ठीक है कि वह हार ही रही है, टूट ही रही है? तकलीफ़ उसे है, और वह उसे पूरी तरह छिपा भी नहीं सकी है। लेकिन उतने ही से तो हार नहीं सिद्ध होती—कम से कम टूटना तो नहीं सिद्ध होता, अगर छिपा न सकने को एक ढंग की हार मान भी लिया जाय।....

दोपहर तक हम एक-दूसरे से नहीं बोले। मैं ने सोचा कि कुछ खाने को बना लूँ, और उस से पूछ भी लूँ कि वह क्या लेगी, लेकिन जब भी उस के पास जाने की बात सोचती तो लगता कि हम दोनों के बीच कोई सामान्य भाषा नहीं है—कम से कम इस समय तो नहीं है। मन-ही-मन कुढ़ती हुई मैं अपने कमरे में बैठी रही और सेल्मा बैठक में अपनी अभ्यस्त कुरसी पर अपनी अभ्यस्त जड़-मुद्रा में।

लेकिन नहीं, वह बैठक में नहीं थी। एकाएक मैं ने उस का स्वर सुना तो वह भण्डारे से आ रहा था। वह स्वर निस्सन्देह उसी का था, लेकिन उस के स्वर से कितना भिन्न, कितना अनभ्यस्त! मैं दबे-पाँव जा कर भण्डारे के किवाड़ की ओट खड़ी हो गयी। बुढ़िया भण्डारे में चीज़ें इधर-उधर रख रही थी—रख नहीं, पटक रही थी। और साथ-साथ बुड़बुड़ाती जा रही थी—गालियाँ—मानो जिस भी चीज़ को वह छू, उठा या पटक रही थी उस के अस्तित्व को कोस रही थी। और मानो भण्डारे की चीज़ों को कोस कर ही उसे सन्तोष न हुआ हो; उस ने भण्डारे के बाहर वाले किवाड़ को झँझोड़ कर खोला और फिर उस के पीछे से एक लकड़ी खींचते हुए लकड़ी को

भी गालियाँ दीं। फिर वह लकड़ी उठा कर मानो किवाड़ को पीटने ही जा रही थी कि वह उस के हाथ से छूट कर नीचे गिर गयी और एक बेबस कराह उस के मुँह से निकल गयी। फिर उस ने अपने हाथ की ओर देख कर उसे भी एक गाली दी : "निकम्मा मुरदा हाथ !'

मैं ने भण्डारे में जा कर पूछा : 'आण्टी सेल्मा, मैं कुछ कर सकती हूँ ?'

बुढ़िया सकपका गयी और थोड़ी देर विमूढ़-सी मेरी ओर देखती रही। फिर एकाएक खिलखिला कर हँस पड़ी—एक अद्‌भुत, अप्रत्याशित, अकल्पनीय खिलखिलाहट—और बोली : 'मैं माफ़ी चाहती हूँ, योके ! मैं अपना ग़ुस्सा इन सब बेजान चीज़ों पर निकाल रही थी। अब कुछ हलका लगने लगा है। गालियाँ भी अजीब चीज़ हैं—बचपन में सुनी हुई गालियाँ बुढ़ापे में काम की जान पड़ने लगती हैं !'

मैं ने कुछ पसीज कर कहा : 'माफ़ी माँगने की कोई बात नहीं है, सेल्मा ! मैं तो कहने जा रही थी कि तुम ने मुझे इस भूल से बचा लिया कि मैं तुम्हें अमानुषी समझने लगूँ। जो गालियाँ दे सकते हैं वह ज़रूर इनसान हैं।'

बुढ़िया ने भण्डारे से बाहर आते हुए कहा : 'बस, अगर इतने ही सबूत की ज़रूरत थी तब तो बड़ी आसान बात है ! बल्कि यह सबूत तो मैं इतना दे सकती हूँ कि तुम उस से मुझे अमानुषी समझने लगो !'

इस छोटी-सी घटना से पायी हुई निकटता दिन-भर बनी रहती, अगर भण्डारे से आ कर कुरसी पर धप् से बैठते ही बुढ़िया मूर्छित-सी न हो जाती। मैं ने उसे सहारा देने की कोशिश की, लेकिन उस ने हाथ के इशारे से मुझे रोक दिया।

उस अत्यन्त दुर्बल हाथ में आज्ञापना का कुछ ऐसा बल था कि मैं उसे छू न सकी, उस के पास भी न जा सकी। जैसे फिर क्षण-भर में हम दोनों अजनबी हो गये।

रात को उस ने कहा : 'कल एपिफ़ानिया का त्योहार है। कल ...लेकिन योके, तुम ईश्वर को मानती हो ?'

मैं नहीं सोच पाती कि मुझे किसी से यह सवाल पूछने का साहस हो सकता है। यह भी नहीं सोच सकती कि इस का जवाब क्या दे सकती हूँ—कैसे दे सकती हूँ। मैंने कहा : 'मैं नहीं जानती।'

'यों तो मैं भी नहीं कह सकती कि मैं जानती हूँ, कि मैं सचमुच मानती हूँ। लेकिन कभी जब यह बात सोचती हूँ कि मैं मरने वाली हूँ, और तब मुझे ध्यान आता है कि तुम यहाँ उपस्थित हो—जब मैं अपने से अलग एक सजीव उपस्थिति के रूप में तुम्हारी बात सोचती हूँ—तब मुझे एकाएक निश्चित रूप से लगता है कि ईश्वर है—कि सजीव उपस्थिति का नाम ही ईश्वर है—कोई भी उपस्थिति ईश्वर है। क्योंकि नहीं तो उपस्थिति हो ही कैसे सकती है ?'

मैं चुप रही।

थोड़ी देर बाद उस ने फिर कहा : 'एपिफ़ानिया ईश्वर की पहचान का दिन है। मैं सोचती हूँ कि कल मुझे भी वह दीख जाता, मैं भी उसे पहचान लेती। योके—अगर मैं कल मर जाऊँ तो तुम्हें कैसा लगेगा ? कभी एकाएक लगता है कि समय आ गया है। लेकिन मैं चाहती नहीं हूँ कि बर्फ़ के पिघलने से पहले मैं मर जाऊँ। और ख़ास कुछ नहीं—तुम्हें अपना बन्दी बना कर रखना नहीं चाहती। अपनी तरफ़ से मैं तैयार हूँ।

जिस दिन तुम्हें स्वतन्त्रता मिलेगी उसी दिन मैं जा सकूँगी। मुझे भी सूरज दीख जायगा !'

पहले मैं मृत्यु की बात पर उसे टोक देती थी। अब उसे व्यर्थ मान कर छोड़ दिया है। उसे मृत्यु की बात करनी होगी तो करेगी ही, मेरे रोकने से रुकेगी नहीं! और फिर शायद ठीक ही कहती है; और मुझे भी इस विचार का आदी हो जाना चाहिए।

मैंने कहा : 'शुक्रिया, सेल्मा! मैं तो चाहती हूँ कि तुम अभी और कई वर्ष की बर्फ़ देखो—कई बर्फ़ों के बाद की धूप !'

उस ने मुसकरा कर फिर हाथ से वही अनिर्दिष्ट इशारा किया जिस का कुछ भी अर्थ हो सकता है।....

६ जनवरी :

रात में मैं हड़बड़ा कर उठ बैठी। लगा कि भूकम्प हो रहा है, सारा मकान थरथरा रहा है। फिर एकाएक कहीं धमाका हुआ और फिर ऐसा लगा कि एक तीखा ठण्डा झोंका कमरे में घुस आया है। थोड़ी देर मैं सुन्न-सी बैठी रही, फिर मुझे ध्यान आया कि अगर धमाका मैं सुन सकी हूँ तो ऊपर से बर्फ़ का बोझ हट गया होगा, और तभी यह समझ में आया कि शायद धमाका उसी का था। मैं उछल कर खड़ी हो गयी। मेरा मन हुआ कि उसी समय जा कर दरवाज़ा खोल कर देखूँ, खुलता है कि नहीं। फिर किसी तरह अपने को सँभाल कर कम्बल ओढ़ कर लेट गयी। इतने में ही बदन ठिठुर गया था!

किसी तरह कुछ घण्टे बिस्तर में बिता कर उठी तो सोचा कि पहले नाश्ता कर लेना चाहिए। बैठने का कमरा पहले की

अपेक्षा कहीं अधिक ठण्डा हो गया था, और ऐसे में दरवाज़ा खोलने की कोशिश मूर्खता ही होगी।

नाश्ता करने के बाद ही लगा कि कमरे के प्रकाश का रंग कुछ बदल गया है—कुछ उजला हो गया है। बुढ़िया के घुटनों पर एक कम्बल डाल कर मैं ने जा कर द्वार खोलने की कोशिश की। वह नहीं खुला, और मैं फिर आ कर बैठ गयी। बुढ़िया ने कहा : 'ऊपर से बर्फ़ शायद हट गयी है। पर अभी बाहर निकलना तो नहीं हो सकता, और ठण्ड भी होगी। शायद आज-कल में थोड़ी धूप भी दीख जाय।'

आज बहुत दिन बाद मैं ने सहज भाव से आँखें उठा कर बुढ़िया के चेहरे की ओर भरपूर देखा। वह चेहरा कुछ-एक दिन में ही काफ़ी और बूढ़ा हो गया था। सभी रेखाएँ अधिक स्पष्ट और गहरी और निर्मम हो गयी थीं और उन के माध्यम से जीवन जो भी निःसंग और निष्करुण सन्देश देना चाहता था वह और भी विशद और असन्दिग्ध हो उठा था।

मैं ने पूछा : 'आण्टी सेल्मा, मैं एक बात अकसर सोचती हूँ—पूछना चाहती हूँ—वह क्या है जो तुम्हें सहारा देता है, जब कि मुझे डर लगता है?'

बुढ़िया ने तुरन्त उत्तर नहीं दिया। थोड़ी देर बाद बोली : 'क्या सचमुच ऐसा है? मुझे किस का सहारा है, मैं नहीं जानती हूँ। ईश्वर का है, यह भी किस मुँह से कह सकती हूँ? शायद मृत्यु का ही सहारा है। वह है, बिलकुल पास है, सामने खड़ी है—लगता है कि हाथ बढ़ा कर उसे छू सकती हूँ। और यह कहने में और इस में क्या फ़र्क़ है कि हाथ बढ़ा कर उस का सहारा ले सकती हूँ? ईश्वर····ईश्वर का नाम ले लेना तो बड़ा आसान है, लेकिन बड़ा मुश्किल भी है। और मौत और

ईश्वर को हम अलग-अलग पहचान भी तो कभी-कभी ही सकते हैं। वल्कि शायद मन से ईश्वर को तब तक पहचान ही नहीं सकते जब तक कि मृत्यु में ही उसे न पहचान लें।'

मैं ने धीमे स्वर में कहा : 'यह मेरी समझ में नहीं आया। बल्कि मुझे तो यही सिखाया गया है कि ईश्वर है, इसीलिए मृत्यु नहीं है। मृत्यु केवल भ्रम है।'

'सिखाया तो मुझे भी यही गया है। लेकिन भ्रम भी क्या कम ईश्वर है ? और ईश्वर की कौन-सी पहचान हमारे पास है जो भ्रम नहीं है ? जब ईश्वर पहचान से परे है तो कोई भी पहचान भ्रम है। ईश्वर को हम कैसे जान सकते हैं ? जो हम जान सकते हैं वे कुछ गुण हैं—और गुण हैं इसलिए ईश्वर के तो नहीं हैं। हम पहचानते हैं अनिवार्यता, हम पहचानते हैं अन्तिम और चरम और सम्पूर्ण और अमोघ नकार—जिस नकार के आगे और कोई सवाल नहीं है और न कोई आगे जवाब ही ''''इसीलिए मौत ही तो ईश्वर का एक मात्र पहचाना जा सकने वाला रूप है। पूरे नकार का ज्ञान ही सच्चा ईश्वर-ज्ञान है। बाक़ी सब सतही बातें हैं, और झूठ हैं।'

मैं अवाक् बुढ़िया को देखती रही। यह क्या बर्फ़ानी वीरान में रहने वाली गड़रियों की माँ की भाषा है ! या कि यहाँ और भी कोई रहस्य है—और छिपा हुआ झूठ ?

७ जनवरी :

ठिठुरती हुई रात में मुझे धीरे-धीरे फिर बुढ़िया पर क्रोध आने लगा। ज्यों-ज्यों मैं मन-ही-मन उस की कही हुई बातें दोहराती त्यों-त्यों मुझे लगता कि उन में छिपा हुआ मेरे प्रति

पैना व्यंग्य है, और यह मरती हुई बुढ़िया अपनी अन्तिम घड़ियों में भी मेरे स्वस्थ युवा जीवन का अपमान कर रही है, मुझे नीचा दिखा रही है। मैं क्यों बाध्य हूँ यह सहने को, उस के द्वारा यों ज़लील किये जाने को ? मैं अगर ईश्वर को नहीं मान सकती तो नहीं मान सकती, और अगर ईश्वर मृत्यु का ही दूसरा नाम है तो मैं उसे क्यों मानूँ ? मैं मृत्यु को नहीं मानती, नहीं मान सकती, नहीं मानना चाहती ! मृत्यु एक झूठ है, क्योंकि वह जीवन का खण्डन है। और मैं जीती हूँ और जानती हूँ कि मैं जीती हूँ। कभी ऐसा होगा कि जीती न रहूँगी —लेकिन जब नहीं रहूँगी तब यह जानने वाला भी कौन रहेगा कि मैं जीवित नहीं हूँ—कि मैं मर चुकी हूँ ? मौत दूसरों की ही हो सकती है, जिन का होना और न होना दोनों ही हम जान सकते हैं—या मानते हैं। लेकिन अपनी मृत्यु का क्या मतलब है ? वह केवल दूसरे को देख कर लगाया हुआ एक अनुमान है—कि दूसरे के साथ ऐसा हुआ इस लिए हमारे साथ भी होगा। लेकिन दूसरे ने अपने होने को जैसा जाना, क्या हम ने भी उस के होने को ठीक वैसा ही जाना ? क्या 'वह है' और 'मैं हूँ' ये दोनों बुनियादी तौर पर अलग-अलग ढंग के, अलग-अलग जाति के, अलग-अलग दुनियाओं के ही बोध नहीं हैं ? 'वह है' के जोड़ का बोध यह भी है कि 'वह नहीं है', लेकिन 'मैं हूँ' के साथ उस का उलटा कुछ नहीं है; 'मैं नहीं हूँ' यह बोध नहीं है बल्कि बोध का न होना है !

लेकिन उस ठिठुरती हुई रात में मैंने यह भी सोचा कि उस बुढ़िया को शायद यह बोध भी है। वह 'मैं हूँ' को भी जानती है और 'मैं नहीं हूँ' की अवस्था में भी जी सकती है। यही तो उस की सम्पूर्ण नकार की बात का मतलब था ! और

इस न होने के बोध की सम्पूर्णता मेरी ठिठुरन के ऊपर एक नये आतंक-सी छा गयी।

क्या है यह 'न होना'? मैं पलंग पर उठ बैठी और उठ खड़ी हुई। गले पर गरम शाल लपेट कर मैंने ड्रेसिंग-गाउन पहन लिया और इधर-उधर टहलने लगी।

न होना। न होना....होना, न होना! होना और न होना —और एक साथ ही होना और न होना....एकाएक मैंने पाया कि मैं केवल इन शब्दों को सोच ही नहीं रही हूँ बल्कि धीरे-धीरे दोहरा रही हूँ, और दोहराने के साथ-साथ मेरे हाथों की मुट्ठियाँ बँधती और खुल जाती हैं।

होना और न होना। खुले हाथ और बँधी हुई मुट्ठियाँ। मेरे नाख़ून मेरी हथेलियों में गड़ जाते हैं और वहाँ दर्द होता है; और उस दर्द से मैं पहचानती हूँ कि मैं हूँ। होने का दर्द! न होने का दर्द कैसा होता है? और फिर मुझ पर एकाएक कोई भूत सवार हो आया। मेरा मन हुआ कि कुछ तोड़-फोड़ कर दूँ। यह जो नाख़ूनों के गड़ने से होने का दर्द होता है उसे और गहरा और विस्तार के साथ अनुभव कर सकूँ—कि जिऊँ और गड़ूँ कि गड़ूँ और जिऊँ और अनुभव करूँ कि मैं जीती हूँ।....

मैं एकाएक मोज़ों वाले पैरों से ही बुढ़िया के कमरे की ओर बढ़ गयी। किवाड़ बन्द नहीं थे। मैं धीरे से परदा हटा कर भीतर चली गयी। अँधेरे में थोड़ी देर आँखें फाड़-फाड़ कर देखती रही; मैं ने पहचाना कि बुढ़िया का आकार उस के पलंग पर निश्चल पड़ा है। मैं पास चली गयी और झुक कर मैं ने देखा, उस के सफ़ेद चेहरे की, जो उस अँधेरे में भुतहा लग रहा था, रेखाएँ कुछ घुल-सी गयी हैं, और बन्द आँखों की कोरों

की सलवटें सीधी हो रही हैं। मैं ने और भी पास से झुक कर देखा—इतनी पास से कि अगर बुढ़िया का चेहरा एक ओर चादर से न ढँका होता तो मेरी घनी साँस का स्पर्श उस का गाल छू जाता!

होना और न होना—होने का दर्द, न होने का भ्रम। भ्रम नहीं, न होना ही सच्चा ज्ञान है। ईश्वर का भ्रम। मेरे हाथ अवश से बुढ़िया की गरदन की ओर बढ़ गये और मैं मानो केवल उस की स्वचालित गति की साक्षी हो गयी। मैं ने देखा कि वे दो हाथ बुढ़िया की गरदन के आगे अर्ध-मण्डलाकार घिर गये हैं—गरदन को उन्होंने अभी छुआ नहीं है लेकिन इतनी पास है कि एक रोएँ की सिहरन भी दोनों की छुअन बन जा सकती है—और वे दोनों हाथ काँप रहे हैं। किसी दुर्बलता के कारण नहीं बल्कि अपने कड़ेपन के कारण ही।

मैं हाथों के ऊपर थोड़ा और झुक गयी। मुझे याद आया, बुढ़िया कहती थी, धूप निकल आये तो अच्छा है...लेकिन मरे हुए गोश्त को इस से क्या कि धूप है या नहीं है—सिवा इस के कि धूप होगी तो सड़न होगी?

क्या ये हाथ—ये समर्थ और कर्मठ हाथ, जिस में एक स्वतन्त्र इच्छा और कारक शक्ति है, मेरे ही हाथ हैं? क्योंकि उन पर झुका हुआ जो व्यक्ति इतनी पास से उन्हें देख रहा है वह व्यक्ति 'मैं' नहीं है। कितनी पास हैं बुढ़िया की मुँदी हुई पलकें—क्या उन के नीचे जो आँखें छिपी हुई हैं वे बुढ़िया की ही हैं, या मेरी, या—

लेकिन वे आँखें अपलक खुली थीं और बुढ़िया एक-टक मुझे देख रही थी। उस ने ज़रा भी हिले-डुले बिना कहा: 'मेरा तो ख़ुद कई बार मन हुआ कि तुम से कहूँ, मेरा गला घोंट

दो—कहने का साहस नहीं हुआ। लेकिन तुम रुक क्यों गयीं ?'

एक बड़ी लम्बी चीख़ मेरे मुँह से निकल गयी और मैं दौड़ कर अपने बिस्तर में घुस गयी। फिर काफ़ी देर बाद मुझे लगा कि मैं रो रही हूँ। लेकिन मेरी आँखों में बिलकुल आँसू नहीं थे। सिर्फ़ ठठरी बेतरह काँप रही थी।....

न जाने कैसे सोयी और कैसे जागी। जो हुआ था उस के बाद सवेरा कैसे हो सकता है, मैं नहीं सोच सकती थी ! और बुढ़िया के सामने मैं कैसे जा सकती हूँ, यह तो सवाल भी मैं अपनी कल्पना के सामने नहीं ला पा रही थी। लेकिन जब मैंने बैठक में झाँका तो वहाँ कोई नहीं था। मैं दबे पाँव रसोई में गयी। मैं ने नाश्ता तयार किया और वहीं खा भी लिया। फिर एक तश्त में कहवा रख कर बुढ़िया के कमरे में गयी। वह पलंग पर निश्चल पड़ी थी। मैं न जान सकी कि वह सोयी है या जाग रही है। और शायद उस ने जान-बूझ कर ही आँखें नहीं खोलीं। मुझे इस में सुविधा ही थी—मैंने तश्त पलंग के पास ही तिपाई पर रख दिया और बाहर चली आयी।

दोपहर हो गयी थी जब उस ने दुर्बल स्वर में मुझे पुकारा। मैं उस के कमरे में गयी और उस के सिरहाने खड़ी हो गयी, जहाँ वह मुझे न देख सके—या कम से कम मुझे उस से आँखें न मिलानी पड़ें। लेकिन उस ने ठोड़ी ऊँची कर के और पलकें चढ़ा कर मेरी ओर देखते हुए कहा : 'योके, थोड़ी देर मेरे पास आ कर बैठ सकती हो ? मुझे तुम से बातें करनी हैं। और आज उठ नहीं पा रही हूँ।'

कहते हैं कि आसन्न मृत्यु की एक गन्ध होती है। हम इनसानों ने उसे पहचानने की शक्ति खो दी है, लेकिन जानवर पहचान सकते हैं और उसे पा कर बेचैन हो उठते हैं। यह भी सुना है कि कैन्सर के रोगियों के अन्तिम दिनों में यह गन्ध इतनी स्पष्ट होती है कि मनुष्य भी पहचान सकते हैं। क्या मेरी कल्पना ही थी कि मुझे लगा, बुढ़िया का कमरा उस विशेष मृत्यु-गन्ध से भरा हुआ है। क्या कल्पना में ही इतना बल था कि मुझे उबकाई-सी आने लगी? मैंने किसी तरह अपने को सँभाला और एक चौकी खींच कर उस के पास बैठ गयी। आँखें मैं उस से नहीं मिला सकी, लेकिन मैंने किसी तरह कहा: 'रात के लिए मुझे क्षमा कर दो। मैं पागल हो गयी थी।'

बुढ़िया ने कहा: 'क्षमा तो मुझे माँगनी है—तुम्हें ऐसी परिस्थिति में डालने के लिए। यह कुछ अच्छी स्थिति नहीं कि कोई कुछ करना चाहे और कर न सके।'

लेकिन मैंने तिलमिला कर कहा: 'लेकिन वह चाहना ही कितना ग़लत और भयानक है—'

'वह कुछ नहीं। भयानक होता तो चाहा कैसे जाता? लेकिन मैंने ही तुम्हें ऐसे संकट में डाला कि तुम्हें अपने भीतर ही दो हो जाना पड़े। सचमुच ही मैं ही अपराधी हूँ, और तुम्हें मुझे क्षमा करना होगा।'

मैं चुप रही। क्या कहती? वह भी काफ़ी देर तक चुप रही, फिर उसने कहा: 'नहीं कर सकतीं क्षमा? इतना आश्वासन मैं और देती हूँ कि कल-जैसा अवसर फिर नहीं आयेगा। मैं ही मौक़ा नहीं दूँगी—नहीं दे सकूँगी। लेकिन मैं चाहती हूँ कि तुम मुझे क्षमा कर दो—इतना ही नहीं, मैं चाहती हूँ कि तुम अपने मुँह से कह सको कि तुम ने कर दिया क्षमा।

क्योंकि उस से तुम्हें भी आगे शान्ति मिलेगी।'

मैंने कहा : 'अपराधी तो मैं हूँ, और मैं दुर्बल हूँ, जो कि दुगुना अपराध है और इसी की कुढ़न मुझे कुराह पर ठेलती है, जो कि और अपराध है।'

उसने कहा : 'न न, योके, यह अपराध को ख़ाहमख़ाह ओढ़ना है। तुम जो अपने को स्वतन्त्र मानती हो वही सब कठिनाइयों की जड़ है। न तो हम अकेले हैं, न हम स्वतन्त्र हैं। बल्कि अकेले नहीं हैं और हो नहीं सकते, इसलिए स्वतन्त्र नहीं हैं; और इसीलिए चुनने या फ़ैसला करने का अधिकार हमारा नहीं है। मैंने तुम्हें बताया है कि मैं चाहती थी कि मैं अकेली मरूँ। लेकिन क्या वह निश्चय करना मेरे बस का था? क्या मैं अपनी मनपसन्द परिस्थिति चुन सकी? और तुम—क्या तुम स्वतन्त्र हो कि मुझे मरती हुई न देखो? ऐसी सब स्वतन्त्रताओं की कल्पनाएँ निरा अहंकार हैं—और उसी से स्वतन्त्रता को छोड़ कर कोई दूसरी स्वतन्त्रता नहीं है।'

मैं ने हिचकिचाते हुए कहा : 'लेकिन तुम स्वतन्त्र हो, सेल्मा, मुझे तो लगता है कि तुम स्वतन्त्र हो! और शायद तुम्हारा यह कहना ठीक है कि मैं स्वतन्त्र नहीं हूँ। क्योंकि तुम्हारी इसी बात पर मुझ में कुढ़न होती है।'

बुढ़िया ने देर तक कोई जवाब नहीं दिया। पर जो कहा वह जवाब नहीं था, यद्यपि कहा ऐसे ही ढंग से गया कि मेरी बात का जवाब दिया जा रहा हो। उस ने कहा : 'बहुत बड़ा वरदान है जवान होना!'

फिर काफ़ी देर तक उस ने कुछ नहीं कहा तो मैं ने पूछा : 'लेकिन तुम तो कुछ बात करने वाली थीं।'

'अरे, वह! मुझे तो माफ़ी ही माँगनी थी, वह मैं ने माँग

ली। तुम ने दे दी यह तो तुम ने अभी नहीं कहा, लेकिन मैं कहला लूँगी। कुछ और—'

वह फिर थोड़ी देर चुप रही। फिर एक लम्बी साँस ले कर बोली: 'मैं थक जाती हूँ।'

मुझे ध्यान आया कि उस ने दिन-भर कुछ नहीं खाया है। पहले दिन भी लगभग कुछ नहीं खाया था। बल्कि इधर कई दिनों से कुछ नहीं खा रही है। मैं ने कहा: 'पहले तुम्हारे लिए कुछ ले आऊँ—थोड़ा-सा गरम शोरबा या कहवा ही।'

उस ने संक्षेप में कहा: 'जितनी मेरी ज़रूरत है, मैं ले लेती हूँ—जितना सकती हूँ।'

बात ख़त्म नहीं हुई थी। लेकिन इस के बाद वह पलकें मूँद कर देर तक चुपचाप पड़ी रही तो मैं ने बुलाना उचित नहीं समझा और चुपचाप उठ आयी।

११ जनवरी:

इस काठघर में—लिख कर मैं देखती हूँ कि मैं ने क़ब्रघर नहीं लिखा है, काठघर लिखा है—क्या मेरे भीतर कहीं कोई छिपी हुई आशा है?—अब पहले-जैसा अँधेरा और झुटपुटे के बीच का-सा प्रकाश नहीं है। ऐसा प्रकाश है जो पहचाना जा सकता है, जो बड़े निर्मम भाव से चेहरे की रेखाएँ और उन की सलवटों में छिपाना चाहने वाली जीवन की बेशर्मी को उघाड़ कर रख देता है। वह प्रकाश जिस में किसी चीज़ की ओर देखते डर लगता है क्योंकि वह पलट कर वापस मेरी ओर देखती है और उस देखने ही में कैसी डरावनी हो आती है। यह मेज़, यह पलंग, यह आइने का चौखटा, यह आइने में

मेरी परछाईं, ये मेरे अपने हाथ-पैर, ये मेरी उँगलियाँ और यह मेरी उँगलियों की गति। कैसी भयानक है पार्थिवता, स्थूलता, यह गतिमत्ता ! मैं मुट्ठी बन्द करती और खोलती हूँ, और मुझे अपनी उँगलियों की गति से डर लगने लगता है। मुझे नहीं लगता कि मैं उन को चलाती हूँ—वे अपने-आप चलती हैं, और कैसा आतंकित करने वाला है यह विचार कि मेरी उँगलियाँ अपने-आप मुझ से स्वतन्त्र एक अपने निरात्म मन से चलती हैं ! और उस से भी कितना अधिक भयानक है यह मानना कि वे अपने-आप नहीं चलतीं बल्कि मेरे द्वारा चलायी जाती हैं। क्योंकि तब क्या मैं भी वैसी ही निरात्म हूँ ?

इस प्रकाश में सेल्मा की ओर देखना आसान नहीं है। लेकिन अच्छा ही है कि मुझे उस की ओर देखना भी नहीं पड़ता, और उस से बोलना भी बहुत कम पड़ता है। वह कमरे से लगभग नहीं निकलती, पलंग से भी लगभग नहीं उठती; और जब उठना होता है तो मेरा सहारा लेने से इनकार कर के मुझे कमरे से बाहर भेज देती है। रात में कभी सुनती हूँ कि वह उठी है, एक क़दम के काफ़ी देर बाद दूसरा घिसटता हुआ क़दम सुनाई पड़ता है। फिर तीसरा और फिर चौथा····मेरे भीतर एक सशंक प्रतीक्षा उमड़ आती है और मैं तने हुए स्नायुओं और सुई-सी एकाग्र श्रवण शक्ति से वह घिसटना सुनती रहती हूँ और क़दम गिनती रहती हूँ जब तक कि अन्त में पलंग की हलकी-सी चरमराहट के साथ एक चरम क्लान्ति का 'ऊँह !' न सुनने को मिल जाय—उस चरम क्लान्ति का, जो चरम उपलब्धि के साथ आती है—मानो जो कुछ करना चाहा गया था सब कर लिया गया, और कुछ करने को बाक़ी नहीं रहा। और तब एकाएक ऐसा लगता है कि जीवन पैरों के

घिसटने के सिवा कुछ नहीं है, और उस के बीच-बीच जो मुझे अपना ध्यान आता है वह धोखा है; मैं नहीं हूँ और केवल पैरों का घिसटना है।....

१२ जनवरी :

इस बिना कफ़न की क़ब्र से क्या वह पहले की ही अवस्था अच्छी नहीं थी ? बर्फ़ के नीचे दब कर मर जाना भी मर जाना है। लेकिन वह दब कर मरना तो है—उस में कार्य और कारण की संगति तो है ! लेकिन यह बिना दबे, बिना बर्फ़ को छुए भी अहेतुक मर जाना—यह मानो हमारे जीवन के अनुभव का अपमान करता है। और हम मरने पर भी अनुभव का खण्डन सहने को तैयार नहीं। शायद यह हमारे इस करुण विश्वास का—विश्वास की कामना का फल है कि अगर अनुभव है तो हम भी हैं, और अगर कोई अनुभव हमें हुआ है तो हमारे मर जाने पर भी वह नहीं मरता और एक धनात्मक उपलब्धि के रूप में बचा ही रह जाता है। इस करुण विश्वास के सहारे हम यह मान लेना चाहते हैं कि हमीं बचे रह जाते हैं। लेकिन सब झूठ है—कुछ नहीं बचता—हम नहीं बचते; बचने को रहे भी, यह भी नहीं कह सकते ! मृत्यु—मृत्यु—मृत्यु—उसी की एक मात्र प्रतीक्षा, ऊपर बर्फ़ हो या न हो—और हाँ, कैन्सर भी हो या न हो ! क्या सेल्मा की प्रतीक्षा मेरी प्रतीक्षा से इस लिए कुछ भिन्न है कि उसे कैन्सर है और मुझे नहीं है, या कि भिन्न इसी बात में है कि उस के पास कार्य-कारण की संगति का सबूत है, और मेरे पास वह भी नहीं है ? क्या मैं ज़्यादा लाचार, ज़्यादा दयनीय—ज़्यादा मरी हुई नहीं हूँ ? क्या मुझे

ही ज़्यादा कैन्सर नहीं है—वह कैन्सर जिसे हम ज़िन्दगी कहते हैं ?

१४ जनवरी :

धूप की एक पतली-सी किरण। नहीं, छत के रोशनदान के एक कोने से घुस कर फ़र्श पर गिरा हुआ धूप का एक छोटा-सा चकत्ता।

और हमारी ज़िन्दगी में—हमारे क़ब्र के प्रवास के इतिहास में एक घटना !

मैं ने बिना सोचे एकाएक सेल्मा के कमरे में जा कर कहा : 'सेल्मा, धूप ! बड़े कमरे में फ़र्श पर धूप की एक बड़ी-सी थिगली है, देखोगी ?'

बुढ़िया चुपचाप थोड़ी देर मेरी ओर देखती रही। फिर मानो मन-ही-मन तय कर के कि इस सूचना पर उसे ज़रूर मुसकराना चाहिए, वह किसी तरह मुसकरा दी। फिर उस ने धीरे-धीरे गुनगुना कर कुछ कहा, जो मुझे सुनाई नहीं दिया। और थोड़ी देर मैं यह भी नहीं सोच सकी कि वह मेरे सुनने के लिए कहा भी गया था या नहीं। थोड़ा झिझक कर मैं ने पूछा : 'सेल्मा, मुझ से कुछ कहा है ?' और तनिक उस की ओर झुक गयी।

वह बोली : 'जाने दो, वह कुछ नहीं।'

मैं ने फिर पूछा : 'नहीं, ज़रूर—कोई किसी चीज़ की ज़रूरत हो तो—धूप देखना चाहोगी ?'

वह कुछ ऐसे ढंग से मुसकरायी जैसे अपना अपराध पकड़े जाने पर बच्चा मुसकराता है। 'हाँ, वह मैं चाह सकती थी,

पर मेरे बस का नहीं है।'

मैं ने कहा : 'मैं उठा कर ले चलूँ?'

'वह—नहीं हो सकेगा। तुम से नहीं, मुझ से ही नहीं हो सकेगा।'

मैं ने कहा : 'अच्छा, मैं यहाँ से दिखा देती हूँ।' और बढ़ कर मैं ने बैठक की ओर के उस के कमरे का किवाड़ खोल कर परदा एक ओर सरका दिया। उतना काफ़ी नहीं था। मैं ने पलंग को भी एक ओर खींच लिया। फिर उस के सिरहाने जा कर कहा : 'मैं बाँह का सहारा देती हूँ, उठ कर देख लो!' और बिना उत्तर की प्रतीक्षा किये अपना हाथ उस की गरदन के नीचे डाल दिया।

वह इतनी हलकी थी कि उसे सहारा दे कर उठाना ही नहीं, बिलकुल उठा लेना भी कोई बड़ा काम नहीं था। लेकिन मेरी बाँह का सहारा ज़रूरत से ज्यादा न लेने की कोशिश में उस ने उठने के लिए थोड़ा ज़ोर भी लगाया। क्षण-भर के लिए मेरा हाथ बालों के लच्छे को छूता रहा, उस के भार का अनुभव उसे नहीं हुआ। फिर एकाएक उस की गरदन शिथिल हो गयी और उस के सिर का भार मेरे हाथ पर आ रहा। उस ने कहा : 'नहीं, शुक्रिया, योके!'

मैं ने हाथ खींच लिया और पल-भर उस के चेहरे की ओर देखती रही। मुझे लगा कि उस पर पसीने की बूँदें हैं—ठण्डी बूँदें। उसने कहा : 'शुक्रिया, योके, धूप ने आज आना ही चुना है, पर मैं उसे देखना नहीं चुन सकती। उसे भी मेरा शुक्रिया दे दो।'

मैं ने कुछ कहना चाहा, लेकिन मुझे कुछ सूझा ही नहीं कि क्या कहा जाय। और वह फिर बोली नहीं—आँखें मूँदे पड़ी

रही। मैं चुपचाप उस के चेहरे की ओर देखती रही, पर मुझे ध्यान आया कि मुझे वहाँ कुछ करने को नहीं है और मेरे वहाँ खड़े होने का कोई मतलब नहीं है। मैं ने उस के कमरे का परदा फिर गिरा दिया और बैठक में आ कर उस छोटी होती हुई धूप की थिगली को देखने लगी। इतनी देर में ही उस का आकार बाँका-टेढ़ा हो कर सिकुड़ गया था। और एकाएक मुझे लगा कि जिस थिगली को मैं देख रही हूँ वह धूप की नहीं है, फ़र्श पर पड़े हुए सेल्मा के चेहरे की है।

फ़र्श पर पड़ा हुआ चेहरा। शरीर से अलग चेहरा—निरा चेहरा, सनातन चेहरा। मैं ने मानो ध्रुव सत्य के रूप में जान लिया, वह चेहरा ही सेल्मा है और सेल्मा ही धूप की वह थिगली है जो कभी भी मिट जा सकती है लेकिन फिर भी ज्यों की त्यों बनी रहती है क्योंकि उस का होना उस के न होने से अलग नहीं है।

सेल्मा का, सेल्मा के पास, कोई इतिहास नहीं है, केवल स्मृति है। सेल्मा भी इतिहास नहीं, स्मृति है, शुद्ध स्मृति। वह एक साथ यहाँ भी और अन्यत्र भी जीती है, आज भी और कल भी और सभी दिनों में एक साथ ही जीती है। और इस लिए वह अलग नहीं है, अकेली नहीं है।

और मैं—मैं यहाँ अभी इस क्षण में जीती हूँ—मुझ में स्मृति नहीं है। मुक्त मुझे होना चाहिए, लेकिन मैं इतिहास से क्षयग्रस्त हूँ और अकेली हूँ। मरना सेल्मा को है, मरेगी वह, लेकिन मर रही हूँ मैं, अकेली मैं....

कोई आध घण्टे बाद सेल्मा ने पुकारा।

मेरे पास जाने पर बोली : 'मेरी एक बिनती है।'

मैं ने कहा : 'कहो।'

उस ने फिर कहा : 'इस के लिए मैं माफ़ी चाहती हूँ। लेकिन तुम मुझे उठा कर धूप तक ले जा सकती हो। मैं चीख़ँ भी तो भी न सुनना—एक बार—'

मैं ने कहा : 'लेकिन सेल्मा, धूप तो चली गयी।'

वह थोड़ी देर चुप रही। फिर बोली : 'यही ठीक है। या कि दूसरा कुछ भी बेठीक होता ! जाने दो।'

मुझ पर एकाएक घनी उदासी छा गयी। पहली बार—एक-मात्र बार—मुझे लगा कि मेरे मन में बुढ़िया के प्रति करुणा उपजी है। लेकिन फिर एकाएक ही मन कड़ा हो आया। बुढ़िया कैसे कह सकती है यह ठीक ही है, या कि दूसरा कुछ बेठीक होता ? यही बात तो बेठीक है—बुढ़िया ही बेठीक है !

एकाएक बुढ़िया ने कहा : 'योके, मैं यह सब एक बार पहले देख चुकी हूँ। इस में-से गुज़र चुकी हूँ।'

बुढ़िया की बात मैं नहीं समझ सकी। लेकिन मैं ने कुछ कहा नहीं। चुपचाप खड़ी रही। उसी ने फिर कहा : 'वर्षों पहले यहाँ आने से पहले, जब मैं शहर में थी—यहाँ आये मुझे कोई अट्ठाईस वर्ष हो गये हैं—यह तो तुम्हारे जन्म से पहले की बात होगी—'

मेरे मुँह से निकल गया : 'मेरे लिए तो वह दूसरी ही दुनिया की बात है।'

वह बोली : 'मेरे लिए भी—दूसरी ही दुनिया की बात है—सुनोगी—तुम्हें समय है ?'

मैं ने कहा : 'ज़रूर, मैं अभी आयी—कुछ काम ठीक-ठीक कर आऊँ।'

लेकिन थोड़ी देर बाद दुबारा जब वहाँ गयी तो मानो उसे मेरे आने का पता ही नहीं लगा। मैं काफ़ी देर तक उस के पास खड़ी रही, फिर एक चौकी खींच कर बैठ गयी और फिर थोड़ी देर बाद चली आयी।

दूसरी दुनिया की बात। दूसरी दुनिया की बात। दूसरी भी कोई दुनिया है ? या कि दूसरी ही दुनिया है, और यह जो है वह नहीं है ?

•

सेल्मा

●

बोल-चाल का मुहावरा जिस तेज़ी से बदलता है, बस्ती का रूप उस से कहीं अधिक तेज़ी से बदल रहा था। बात-चीत में अभी तक क़स्बा ही कहते थे, लेकिन उस में शहर के सब लक्षण आ चुके थे। बल्कि जिस हिस्से को किसी भी औचित्य के साथ क़स्बा कहा जा सकता वह् उस के एक छोर पर पड़ गया था। उतने हिस्से का स्थापत्य कुछ अलग और पिछड़ा हुआ था। सड़कें इतनी तंग थीं कि उन्हें गलियाँ कहना ही ठीक था और वहाँ वाले वही कहते भी थे। वहाँ के लोगों के जीवन की गति भी धीमी ही थी और शायद उन के बोलने के ढंग की तरह उन की जीवन-दृष्टि भी कुछ पुरानी और कुछ पिछड़ी हुई थी। कम से कम शहर में, यानी शहर के दूसरे हिस्से में, रहने वाले लोग उसे पिछड़ा हुआ ही मानते थे और जब भी क़स्बे के लोगों की चर्चा करते थे तो उस में एक व्यंग्य निहित होता था—बड़ा शहराती, छिपा हुआ व्यंग्य, लेकिन शहराती या छिपा हुआ होने के कारण कुछ कम तीखा नहीं।

क़स्बे के आगे सीधे-सपाट मैदान में बाग़ था। यह भी पुराना बाग़ था, पुरानी और सुस्त चाल से चलने वाला बाग़, जिस में हलकी-फुलकी, चुस्त और हर मौसम में रूप बदलने वाली फूलों की क्यारियाँ बिलकुल नहीं थीं; पुरानी और सदा-बहार हरियाली के बीच में जहाँ-तहाँ बहुत बड़े-बड़े, पुराने और बड़ी धीमी गति से बढ़ने वाले पेड़ थे।

बाग़ के पार नदी थी—या नदी किनारे की सड़क थी, क्योंकि सड़क ही बाग़ की मर्यादा बाँधती थी, सड़क के आगे फिर हरियाली का फैलाव था और उस के आगे नदी थी।

हरियाली का ढलाव नदी की ओर था; और हर साल बारिश होने पर सारी हरियाली डूब जाती थी और बाग़ की मर्यादा-रेखा खींचने वाली सड़क, नदी की मर्यादा-रेखा बन जाती थी। लेकिन जब नदी उतर जाती थी और हरियाली के नीचे की मिट्टी फिर बँध जाती थी, तब बाग़ की सैर करने वाले सड़क पार कर के हरियाली की सैर करने भी ज़रूर आते थे और हरियाली पर टहलते हुए ही नदी के पुल तक जाते थे। पुल था तो नदी का, पर नदी के साथ-साथ हरियाली को भी बाँधता था। धनुषाकार पुल दूर-दूर से दीखता था और हरियाली की सैर करने आने वालों के क्षितिज का महत्त्वपूर्ण अंग था। सैर के अन्त में उन्हें प्यास ज़रूर लगती थी, और कभी-कभी भूख भी लग आती थी, जिस के शमन का प्रबन्ध पुल पर ही था। जहाँ से पुल की उठान शुरू होती थी वहाँ से, बल्कि उस के कुछ पहले सड़क की पटरी पर से ही, अस्थायी दूकानें शुरू हो जाती थीं। पहले झाबे या रेहड़ी वाले; फिर उन के बाद बड़ी रेहड़ियाँ आती थीं जिन पर दूकानदार के रहने की भी जगह बनी हुई हो; उस के बाद, धनुष के सब से ऊँचे खण्ड पर, कुछ पक्की

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
अध्यापी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

दूकानें थीं।

नदी में बाढ़ हर साल ही आती थी, लेकिन हर साल की बाढ़ सड़क को छू कर धीरे-धीरे उतर जाती थी। ऐसा कभी-कभी ही होता था कि वह और बढ़ कर सड़क पर आ जाये। लेकिन जब वैसा होता था तो सड़क के साथ समूचा बाग़ भी पानी में डूब जाता था और पुल के छोर भी डूब जाते थे। बाग़ के बड़े-बड़े पेड़ मानो सीधे पानी में से उग कर पानी पर ही छाँव करते जान पड़ते थे, और पुल का भी मानो नदी से, या उसे पार करने की ज़रूरत से, कोई सम्बन्ध नहीं रहता था। मानो पाताल-वासी जल-देवता ने अपनी शक्ति देखने के लिए भुजा बढ़ा कर एक महाकाय धनुष पानी से ऊपर ठेल दिया हो, ऐसा ही वह तब लगने लगता था। उस की लोहे और पत्थर और कंकरीट की चुनौती की ओर पीठ फेर कर क़स्बे के लोग ऊँचाई पर बसी हुई नयी बस्ती की ओर चले जाते थे और पानी उतरने की प्रतीक्षा किया करते थे—जब मानव को जलदेवता-द्वारा दी गयी चुनौती का प्रतीक, फिर पलट कर जल-देवता पर मनुष्य की विजय का प्रतीक बन जायेगा, और पुल पर से लोगों का आना-जाना फिर सम्भव हो जायेगा—पुल पर खाने-पीने की तरह-तरह की चीज़ें फिर बिकने लगेंगी और आने-जाने वाले न केवल अपनी भूख-प्यास शान्त कर सकेंगे, बल्कि तफ़रीह के लिए घूमते हुए कंघी-रूमाल, फूल-गुलदस्ते भी खरीद सकेंगे। या कि सड़क के किनारे के फ़ोटोग्राफ़र से यादगार के लिए फ़ोटो भी खिंचवा सकेंगे।

सन् १९०६ में जो बाढ़ आयी उसे लोग अब भी याद करते हैं। यह कह देने से कि उस शहर या क़स्बे के लिए नदी की उस वर्ष की बाढ़ ने रेकॉर्ड स्थापित किया था, कुछ भी अनुमान

नहीं हो सकता कि वह बाढ़ क्या चीज़ थी। बाढ़ के साथ भूकम्प भी हुआ था, जिस से नयी बस्ती की सड़क में भी बड़ी-बड़ी दरारें पड़ गयी थीं और क़स्बे के तो मकान ही गिर गये थे। लेकिन सब से अधिक चौंकाने वाली जो बात हुई थी वह उस धनुषाकार पुल की दुर्घटना थी। पुल पर कुछ लोग इस वर्ष भी थे, जैसे कि हर वर्ष बाढ़ में रहते थे—बाढ़ दो-चार दिन में उतर ही जाती थी और पक्की दूकान वालों को उस का कोई डर नहीं रहता था। इन दिनों के लिए सब सामान उन के पास रहता ही था। नावें भी बँधी रहती थीं जिन से ज़रूरत पड़ने पर काम लिया जा सके। पर वास्तव में उन की ज़रूरत कभी-कभी ही पड़ती, क्योंकि आम तौर पर बाढ़ में भी पैदल चल कर ही बाग़ को पार किया जा सकता था। बल्कि कभी-कभी नयी बस्ती के कुछ मनचले लोग घुटने तक के रबड़ के बूट पहन कर इस तरह बाग़ पार कर के आते भी थे। और भी शौक़ीन और सम्पन्न लोग नाव में बैठ कर सीधे पुल तक पहुँचते थे, जो कि उन दिनों अच्छी-ख़ासी सैरगाह बन जाता था। बाढ़ के दिनों में पुल के ऊपरी हिस्से के चायघर में बैठ कर चाय-पानी एक ख़ास बात समझी जाती थी और इस का प्रमाण रखने के लिए लोग—या कभी-कभी प्रेमी-युगल अपने साहस-कर्म की स्मृति बनाये रखने के लिए—वहीं के फ़ोटो भी खिंचवाते थे।

फ़ोटोग्राफ़र की दूकान में अधिक संख्या ऐसे ही चित्रों की थी जिन में गलबहियाँ डाले या चाय का प्याला अथवा सिगरेट हाथ में लिये हुए लोग पानी से घिरे हुए बैठे या खड़े हैं।

लेकिन उस साल एकाएक सब बदल गया। पहली बाढ़ में ही पानी इतना चढ़ आया कि नावें रस्सियाँ तुड़ा कर बह

गयीं। पुल से आने-जाने का रास्ता भी बन्द हो गया और शहर की नावें बह जाने के कारण वहाँ से लोगों का आना भी असम्भव हो गया। सैलानी कोई नहीं आये। बल्कि बहते हुए जानवर या जानवरों की लाशें दुर्गन्ध की एक लकीर-सी खींचती हुई पुल के नीचे से निकल गयीं।

फिर भूचाल के साथ आने वाली दूसरी बाढ़ में और भी दुर्घटना यह हुई कि सारे पुल की नींव हिल गयी। दोनों सिरे तो टूट कर बह ही गये, बीच का जो सब से ऊँचा खण्ड बचा उस के खम्भे भी दरक गये और कुछ तो अपनी जगह से थोड़ा हट भी गये। कब तीव्र धारा का थप्पड़ उन्हें थोड़ा और सरका कर, या अपनी रगड़ से सहारा देने वाले निचले हिस्से को काट कर, अधर में टँगे हुए धनु-खण्ड को भी बहा ले जायेगा इस का कोई ठिकाना नहीं रहा। चारों ओर घहराता हुआ दुर्द्धर्ष अथाह पानी, आक्षितिज केवल पानी! बाग़ के बड़े-बड़े पेड़ भी अब उस पानी पर छाया नहीं डाल रहे थे, बल्कि उन के ऊपरी हिस्से स्वयं पानी की सतह पर छाया-से दीख रहे थे। कुछ तो उखड़ कर बह भी गये थे। थोड़ी देर के लिए शायद एक-आध की जड़ें पुल के डूबे हुए छोर के साथ अटकी होंगी, लेकिन उस के बाद गँदले पानी और झाग का एक भँवर अपने पीछे खींचते हुए वे पेड़ आगे बह गये थे और इस घरघराहट और टूटन और प्रलयंकर विनाश के बीच में बेतुका-सा खड़ा रह गया था तीन खम्भों पर टँगा हुआ पुल का बीच का हिस्सा और उस के ऊपर की तीन-चार दूकानें और उन में बसे हुए तीन-चार लोग।

सेल्मा डालबर्ग ने एक बार दूकान में से निकल कर पुल की मुँडेर तक आ कर पानी की ओर देखा, और फिर

आकाश की ओर, और फिर दूकान के अलग हिस्से में बने हुए काँच मढ़े बरामदे में जा कर ऊँचे मूढ़े पर बैठ कर अनदेखती आँखों में मेज़ों और कुरसियों के सूनेपन को ताकने लगी। चायघर में अकेली वह, पास की फ़ोटो की दूकान में फ़ोटोग्राफ़र, और दूसरे पास सूवेनिर रूमालों, खिलौना-आकार के चाय के प्यालों, और पुल की प्रतिकृतियों की दूकान में यान एकेलोफ़—प्रलय की मटमैली धारा के ऊपर टँगी हुई पुल-रूपी दुनिया में यही तीन प्राणी रह गये थे। हज़रत नूह की नाव मानो मस्तूल टूट जाने के बाद भटकती हुई कहीं अटक गयी थी और अटक कर अर्थहीन हो गयी थी; और अर्थहीनता से थरथर काँपते हुए तीनों प्राणी उस से चिपके हुए साँस गिन रहे थे। नूह के बचाये हुए जानवरों से किसी बात में कम नहीं थे ये तीनों जानवर। क्योंकि जानवर ही थे वे—या कम से कम चायघर के बरामदे में बैठी हुई सेल्मा डालबर्ग की अनदेखती आँखों को ऐसा ही लग रहा था।

थोड़ी देर बाद उठ कर उस ने अपने खाने के लिए कुछ बनाना शुरू किया तो बाहर से यान एकेलोफ़ की आवाज़ आयी:

'खाने को कुछ है?'

सेल्मा ने एक बार सिर से पैर तक यान को देख कर कहा: 'ईंधन की तो बहुत कमी है। कुछ बनाने में दुगुने दाम लगेंगे।'

यान थोड़ी देर एक-टक उस की ओर देखता रहा। फिर बोला: 'स्टोव तो मेरे पास है। अगर दूकान से कुछ कच्ची चीज़ भी मिल जाय—थोड़ा आटा या सूखा गोश्त ही मिल जाय तो भी काम चला लूँगा।'

'कितना क्या चाहिए?'

सामान लेने के लिए मुड़ते हुए सेल्मा ने कहा : 'दाम तो तुरन्त दे दोगे न ?'

यान ने थोड़े अचम्भे से कहा : 'हाँ-आँ।' फिर थोड़ा रुक कर बोला : 'मैं कभी हिसाब बेबाक किये बिना भागा न होऊँ ऐसा तो नहीं कह सकता, लेकिन इस वक़्त तो तुम्हें इस का डर नहीं होना चाहिए !'

थोड़ी देर बाद सेल्मा ने एक बड़ा लिफ़ाफ़ा यान की ओर बढ़ाते हुए दाम बताये तो यान चौंक पड़ा। उसे लगा कि शायद सुनने में भूल हुई है। लेकिन जब सेल्मा ने अपनी बात दोह-रायी तब उस ने चुपचाप पैसे निकाल कर दे दिये और लिफ़ाफ़ा उठा कर चला गया। उसे याद नहीं था कि जीवन में पहले कभी वह बिना 'थैंक्स' कहे यों सौदा उठा ले गया है।

उस दिन फिर वह नहीं आया। सेल्मा ने इस की सम्भा-वना की थी कि वह फिर आयेगा, क्योंकि जो सौदा वह ले गया था वह अगले दिन तक के लिए काफ़ी नहीं था। एक बार उसे फ़ोटोग्राफ़र का भी ध्यान आया था। लेकिन वह उस की ओर नहीं आया। वह यान की अपेक्षा अधिक सम्पन्न भी था। असम्भव नहीं कि उस के यहाँ खाने-पीने का कुछ सामान हो। सेल्मा ने धीरे-धीरे सब परदे खींच दिये और भीतर कहीं खो गयी।

लेकिन दूसरे दिन सवेरे ही फ़ोटोग्राफ़र ने आ कर जानना चाहा कि सेल्मा के यहाँ से पीने का पानी मिल सकता है या नहीं।

सेल्मा ने विस्मय दिखाते हुए कहा : 'पानी ? मैं तो सम-झती थी कि तुम्हारे यहाँ साफ़ पानी बराबर रहता होगा—फ़ोटोग्राफ़र का काम उस के बिना कैसे चल सकता है ?'

मालूम हुआ कि पुल के काँपने से दवा की कुछ शीशियाँ पानी के ड्रम में गिर कर टूट गयी थीं और सारा संचित पानी दूषित हो गया था।

सेल्मा ने मानो मन-ही-मन परिस्थिति का मूल्य आँकते हुए कहा : 'पानी मेरे पास शायद चाय बनाने लायक़-भर होगा। मैं ने अभी चाय भी नहीं बनायी है। कहो तो वही पानी तुम्हें दे दूँ। या कि यही एक प्याला चाय पी लो।'

फ़ोटोग्राफ़र ने कहा : 'नहीं, तब तुम्हें तकलीफ़ नहीं दूँगा। चाय तो नदी के पानी में भी बन सकती है—एक बार उबल जाये तब कोई डर तो नहीं रहेगा।' और लौट गया।

समय नापने के कई तरीक़े हैं। एक घड़ी का है, जो शायद सब से घटिया तरीक़ा है क्योंकि उस का अनुभव से कम से कम सम्बन्ध है। दूसरा तरीक़ा दिन और रात का, सूर्योदय और सूर्यास्त का, प्रकाश और अँधेरे का और इन से बँधी हुई अपनी भूख-प्यास, निद्रा-स्फूर्ति का है। यह यन्त्र के समय को नहीं, अनुभव के समय को नापने का तरीक़ा है; इस लिए कुछ अधिक सच्चा और यथार्थ है।

फिर एक तरीक़ा है, घरघराते पानी में बहते हुए भँवरों को गिन कर और उन के ताल पर बहती हुई साँसों को गिन कर समय को नापने का तरीक़ा। यह और भी गहरे अनुभव का तरीक़ा है, क्योंकि यह समय के अनुभव को जीवन के अनुभव के निकटतर लाता है। समय और समय-मुक्त, काल और काल-निरपेक्ष, अनित्य और सनातन की सीमा-रेखा और क्या है—सिवा हमारी साँसों के और साँस की चेतना में होने वाले जीवन-बोध के। साँस में ही जीवन-बोध हो, ऐसा नहीं है; क्योंकि साँस लेना तो अनवधान अवस्था की क्रिया है। साँस

की बाधा ही जीवन-बोध है, क्योंकि उसी में हमारा चित्त पहचानता है कि कितनी व्यग्र ललक से हम जीवन को चिपट रहे हैं। इस प्रकार डर ही समय की चरम माप है—प्राणों का डर....

क्या सेल्मा अकेली ही इस माप-दण्ड से समय को नापती रही है? क्या यान और फ़ोटोग्राफ़र भी उसी नदी-प्रवाह से घिरे हुए उन्हीं भँवरों की ओर नहीं देख रहे हैं? क्या उस के पास कोई दूसरी नाप है? नदी का प्रवाह और काल का प्रवाह पर्याय हैं; क्योंकि दोनों की पहचान डर की पहचान है। प्राणों के डर की....

यान, फ़ोटोग्राफ़र और सेल्मा के बीच एक दीवार-सी खिंच गयी। कम से कम उन दोनों और सेल्मा के बीच तो खिंच ही गयी; क्योंकि सेल्मा कभी-कभी खिड़की के काँच में से झाँक कर देखती कि वे दोनों कुछ बातें कर रहे हैं, या कभी-कभी इशारों से एक-दूसरे को कुछ कह रहे हैं। दोनों ने इस बीच शायद दो-चार बार एक साथ चाय बना कर भी पी, ऐसा उन की हरकतों से सेल्मा ने अनुमान लगा लिया।

चौथे दिन यान फिर उस के पास कुछ ख़रीदने आया। यान को सामने पा कर उसे एकाएक लगा कि वह दीवार और भी ठोस हो गयी है, और उस का मन यान के प्रति एकाएक कठोर हो आया। सहानुभूति उन सब की परिस्थिति में अकल्पनीय हो, ऐसा उसे अब तक नहीं लगा था—इस बारे में कुछ सोचने की आवश्यकता ही उसे नहीं हुई थी। लेकिन जिस ढंग से यान से बात हुई—यानी यान ने जैसे बात शुरू की—उस से सेल्मा को एकाएक ऐसा लगा कि दुनिया का मतलब और कुछ नहीं है सिवा इस के कि एक वह है, और बाक़ी

ऐसा सब है जो कि वह नहीं है, और जिस के साथ उस का केवल विरोध का सम्बन्ध है। यह विरोध ही एकमात्र ध्रुवता है जिसे उसे कस कर पकड़े रहना है, जिसे पकड़े रहने के अपने सामर्थ्य को उसे हर साधन से बढ़ाना है।

यान ने जेब में-से पैसे निकाले और फिर कहा : 'यह तो काफ़ी नहीं है, मैं उधर से और ले आता हूँ—तब तक तुम सामान निकाल कर रखो।'

सामान यानी थोड़ा-सा सूखा गोश्त, और डिब्बे का दूध। जब तक सेल्मा भीतर से यह निकाल कर लायी तब तक यान दुबारा लौट आया था। उस ने पैसे चुकाये और सामान ले कर चला गया।

दीवार फिर पहले-सी खड़ी हो गयी। ठोस पर पारदर्शी दीवार, जिस में-से सेल्मा टूटे पुल की बाक़ी दुनिया की हरकतें देखती रही।

तीसरे पहर उधर वे दोनों फिर मिले। शायद उन्होंने चाय बनायी। और शायद चाय स्टोव पर नहीं बनायी गयी, बल्कि यान ने अपने कुछ खिलौने जला कर आग तैयार की। और शायद चाय अच्छी नहीं बनी, क्योंकि उस को पीने वाले दोनों के चेहरे विकृत दीखे।

अगले दिन उसी काँच की दीवार के पार से फ़ोटोग्राफ़र का चेहरा देख कर सेल्मा को एकाएक लगा कि उसे दुबारा देखना ज़रूरी है। दुबारा देखने पर उस ने जाना कि वह चेहरा बिलकुल पीला पड़ गया है। फ़ोटोग्राफ़र ने टीन का डिब्बा लटका कर नदी का पानी पिया और अपनी दूकान के भीतर लौट गया। थोड़ी देर बाद वह फिर उसी तरह निकला और एक डिब्बा पानी भर कर लौट गया; और सेल्मा को लगा कि

इस बीच वह थोड़ा और पीला हो गया है।

तीसरे पहर उस ने देखा कि यान भी फ़ोटोग्राफ़र की तरफ़ चला गया है और उसे रह-रह कर पानी पिला रहा है। फ़ोटोग्राफ़र पानी पी कर दूकान के भीतर कहीं अदृश्य हो जाता है लेकिन थोड़ी देर बाद ही फिर घिसटता हुआ आ जाता है।

तो ये लक्षण अच्छे नहीं हैं। फ़ोटोग्राफ़र शायद बीमार है। लेकिन बीमार है तो सेल्मा क्या कर सकती है ? और जब वह देखती है कि यान ऐसी अनदेखती, अनपहचानती आँखों से उस के बरामदे की ओर देखता है और फिर मुँह फेर लेता है, तब उसे लगता है कि न केवल वह कुछ कर नहीं सकती या करना चाहती भी नहीं, बल्कि अगर वह सकती या चाहती ही तो भी उस दूसरी दुनिया तक उस का पहुँचना न होता जिस में वे दोनों हैं। वे दोनों हैं ही नहीं, एक भयानक दुःस्वप्न के अंग हैं; और दुःस्वप्न में देखे हुए लोगों तक जीते-जागते कोई कैसे पहुँच सकता है ?

रात हो गयी। अँधेरे में नदी की ओर काल की घरघराहट कहीं बाहर हो गयी, और सेल्मा ने सब परदे खींच कर अपने को मानो अपनी ही ओट कर लिया। उस में और इस बाहर में एक मौलिक विरोध है जिसे पकड़े रहना है; वही ध्रुव है और उसे पकड़े रहने का सामर्थ्य ही जीवन....

कभी-न-कभी यह बाढ़ उतरेगी ही, और तब वह टुटहा पुल शायद एक अतिरिक्त आकर्षण पा लेगा। सैलानी पुल पर हमेशा आते रहे, टूटे हुए पुल पर और भी अधिक आयेंगे, क्योंकि अब तो वह एक कौतुक की चीज़ हो जायेगा। और उस का चायघर का कारोबार और भी चमक उठेगा। यों भी मुनाफ़ा होता ही रहा है। क्या कहावत है—कि कोई भी दुर्भाग्य

ऐसा नहीं होता जिस में किसी-न-किसी का लाभ भी न हो····

लेकिन घनी रात में कहीं वह एकाएक हड़बड़ा कर जागी और उठ बैठी। आँखों की और शिराओं की कसक कह रही थी कि अभी घोर रात है। लेकिन परदों की ओट से भी अंगारे-सा लाल उजाला मानो उस के अनुभव का खण्डन कर रहा था। जल्दी से एक चादर कन्धों पर डाल कर वह बरामदे तक आयी, परदा हटा कर उस ने बाहर झाँका और झाँकती रह गयी।

फ़ोटोग्राफ़र की दूकान धू-धू जल रही थी।

इस से पहले कि सेल्मा कुछ सोच भी सके कि उसे क्या करना चाहिए, उस ने देखा कि फ़ोटोग्राफ़र दूकान की ओट से निकल कर सामने की ओर आया और कमर पर हाथ टेक कर आगे की ओर देखने लगा। फिर एकाएक वह ठोड़ी उठा कर हँसा—सेल्मा हँसी सुन नहीं सकी, पर जो उन्मत्त अमानुषी भाव फ़ोटोग्राफ़र के चेहरे पर झलक आया था और जिस ढंग से उस का जीर्ण देह-पिंजर हिल उठा था, उस से यह अनुमान कठिन नहीं था कि वह हँस रहा है। यद्यपि उस अमानुषी विस्फोट को हँसी कहना भाषा के चलन के साथ अत्याचार करना ही है।

सेल्मा का जड़ित मोह एकाएक टूट गया। उस ने झटके से दरवाज़ा खोला और बाहर बढ़ने को ही थी कि फिर एक बार ठिठक गयी। उस पार यान भी बाहर निकल आया था और फ़ोटोग्राफ़र की ओर लपक रहा था। एकाएक फ़ोटोग्राफ़र ज़ोर से चीख़ा और धारा में कूद पड़ा। वह चीख़ सेल्मा सुन सकी। वह एकाएक प्रवाह के कारण कट गयी, लेकिन जिस ढंग से कटी उस से यह सन्देह बना ही रह गया कि वह चीख़ एक पागल हँसी थी—एक पागल अट्टहास का आरम्भ जो कि

चीख़ के साथ छोटे-छोटे विस्फोटों में बँट जाता है,—या कि पानी ने ही एकाएक साँस को तोड़ कर दो-तीन बुलबुलों में बाँट दिया था।

सेल्मा की टाँगें लड़खड़ाने लगीं और वह बरामदे की सीढ़ी पर बैठ गयी। टाँगें न भी लड़खड़ायी होतीं तो भी वह आगे बढ़ सकती थी यह नहीं कहा जा सकता था। यान धीरे-धीरे बढ़ रहा था, जहाँ से फ़ोटोग्राफ़र कूदा था वहाँ पहुँच कर वह खड़ा हो कर एक-टक पानी को ताकता रहा। कुछ करने को नहीं था। फ़ोटोग्राफ़र पुल के नीचे से हो कर न जाने कितनी दूर चला गया होगा। हाँ, सचमुच न जाने कहाँ चला गया होगा! क्योंकि अब यह भी कहना शायद झूठ होगा कि वह बाढ़ में बह रहा होगा—बाढ़ भी उस के लिए उतनी सारहीन और सत्त्वहीन हो गयी होगी जितनी कि उस की अपने देह····

काफ़ी देर बाद यान ने एक बार मुड़ कर सेल्मा के बरामदे की ओर देखा। देख लिया कि वह सीढ़ी पर बैठी है, और फिर मुँह फेर लिया। फिर वह धीरे-धीरे अपनी दूकान की ओर बढ़ने लगा, लेकिन चार-छह क़दम जा कर फिर मुड़ कर फ़ोटोग्राफ़र की दूकान के पास ही बैठ गया। और चुपचाप उस के जलने को देखने लगा। उस दूकान के जलने से किसी को कोई ख़तरा नहीं था, और अगर सेल्मा का अनुमान ठीक है कि गँदला पानी पी कर पेचिश से ही फ़ोटोग्राफ़र मरा—नहीं, मरा तो पानी में कूद कर, लेकिन उन्माद शायद उसी कारण हुआ—तो फिर दूकान का जल जाना एक तरह से ठीक ही है।

एकाएक सेल्मा को लगा कि यह बात उस के मुँह से निकलने ही वाली है। उस ने होंठ काट लिये।

शायद यान को भी ठीक उसी समय यह लगा कि सेल्मा कुछ कहने वाली है। क्योंकि उस ने मुड़ कर स्थिर दृष्टि से क्षण-भर उस की ओर देखा। फिर मानो निश्चयात्मक भाव से गरदन मोड़ कर पीठ सेल्मा की ओर कर ली। सेल्मा ने उठ कर बड़े धड़ाके से दरवाज़ा बन्द किया और झटके से परदा खींच कर भीतर चली गयी। अपने चायघर के भीतर, अपने ही भीतर, जहाँ न डूबता हुआ फ़ोटोग्राफ़र है, न घृणा करता हुआ यान। जहाँ आत्मविश्वास है और सुरक्षा है और भविष्य की अनुकूलता है। यह नहीं कि डर बिलकुल नहीं है, लेकिन उस डर की बात अभी सोचना ज़रूरी नहीं है। वह डर निरी देह का है, और देह का डर झुठलाया जा सकता है—तब तक जब तक कि वह भीतर नहीं पहुँचता। देह तो हमेशा ही अकेली है, और उस के लिए अकेलेपन का अलग से कोई मतलब नहीं है। और उस के भीतर जो है वह कभी भी अकेला नहीं है, क्योंकि वह तो समूचे का है। केवल जब वह भीतर वाला समूचे का नहीं रहता और अकेला अनुभव करता है—या जब देह अकेली नहीं रहती, समूह का खण्ड हो जाती है—तभी वह डर होता है जिसे झुठलाया नहीं जा सकता, जो छाती पर चढ़ बैठता है और मानो फेफड़ों में पंजा डाल कर खँखोड़-खँखोड़ कर साँस बाहर निकालता रहता है।

सेल्मा सोयी नहीं। वह अंगारे-सी लाल दहकती हुई रोशनी धीरे-धीरे काली पड़ी और फिर एक दूसरी तरह की पीली रोशनी में बदल गयी; फिर कमरे के भीतर भी सब आकार स्पष्ट हो आये और दिन हो गया।

सेल्मा ने उठ कर मुँह-हाथ धोया, अँगड़ाई ले कर अपने को बोध कराया कि उस का अंग-अंग दुखता होने पर भी

शरीर अभी उसी का है और उस के वश में है। फिर उस ने बहुत गहरी चाय बना कर बिना दूध-चीनी के ही पी डाली। उस की कड़ुवाहट से भी जब तसल्ली नहीं हुई तो भीगी पत्तियाँ भी प्याले में उँड़ेल कर उन्हें मुँह में भर लिया और मुँह के अन्दर इधर-उधर घुमाती रही। थोड़ी देर बाद वह घूँट उस ने थूक दिया, और गालों के अन्दर जीभ फेर कर मानो अपने मुँह के कसैलेपन का स्वाद लेने लगी।

फिर आ कर उस ने बरामदे के परदे उठा कर एक खिड़की खोली। दूसरी खिड़कियाँ या दरवाज़े भी खोले, इस की ज़रूरत उसे नहीं जान पड़ी, बल्कि अवचेतन रूप से शायद उसे यही ज़रूरी जान पड़ा कि दरवाज़ा न खोले।

यान को वह देखे ऐसा कोई कौतूहल उस के मन में नहीं था। शायद यह कहना अधिक सच होगा कि यान उसे देखे यही वह नहीं चाहती थी, और उसे अपनी ओर देखते हुए पाये यह तो कदापि नहीं।

लेकिन उस की आशंका निर्मूल थी। यान उधर नहीं देख रहा था। वह बाहर ही था, उसी जगह पर था, जहाँ उसे बैठा हुआ देख कर सेल्मा रात में भीतर गयी थी, और उस की पीठ उसी तरह सेल्मा की ओर थी।

लेकिन यह नहीं था कि वह रात-भर वहीं वैसा ही बैठा रहा हो। वह शायद थोड़ी देर पहले ही वहाँ आकर बैठा था। सेल्मा ने बिना आहट किये एक चौकी खिड़की के पास रखी और उस पर बैठ कर परदे की ओट से यान को देखने लगी।

थोड़ी देर बाद यान उठा और जल चुके घर के अंगारों की ओर बढ़ कर झुका। सेल्मा ने देखा कि उन अंगारों पर एक टीन में कुछ पक रहा है। यान ने टीन के डिब्बे को हिलाया

और फिर पहले-सा बैठ गया।

तो उस जले हुए घर की राख पर यान कुछ पका रहा है। एकाएक दूकान के जलने का रात में देखा हुआ वह दृश्य सेल्मा की आँखों के सामने साकार हो आया। मानो फ़ोटोग्राफ़र की वह उन्मत्त मुद्रा उस ने फिर देखी, वह पागल चीख़ फिर सुनी; और फिर पानी की बुड़बुड़ाहट और फिर वह एकस्वर घर-घराहट, जिस से घिरे हुए उसे न जाने कितने दिन हो गये थे। एकाएक उसे उबकाई आने लगी। उस ने परदा खींच कर दृश्य अपनी आँखों के आगे से हटा दिया और वहाँ से उठ गयी। लेकिन दृश्य उस की आँखों के आगे थोड़े ही था जो परदा खींचने से हट जाता! वह जिधर मुड़ी उधर भी वही दृश्य था—क्योंकि वह उस की आँखों के सामने नहीं, आँखों के भीतर था। उस की उबकाई ने एकाएक मतली का रूप ले लिया और वह बेचैन-सी भीतर दौड़ गयी।

दिन छिपने वाला था कि बरामदे की सीढ़ी पर सेल्मा ने आहट सुनी। तो यान आया है! दरवाज़ा उस ने नहीं खोला, खिड़की तक आ कर प्रश्न की मुद्रा में खड़ी हो गयी।

यान ने बिना उस की ओर देखते हुए और बिना भूमिका के पूछा: 'गोश्त है?'

सेल्मा एकाएक तिलमिला गयी, और अपने को वश में करते हुए बोली: 'हाँ, है। दाम ले आओ।'

यान ने और भी संक्षिप्त भाव से कहा: 'हैं।'

सेल्मा ने भीतर से लाकर एक हत्थेवाले तश्त में रखा हुआ गोश्त यान की ओर बढ़ाया।

यान ने पूछा : 'कितने ?'

सेल्मा ने दाम बताते हुए कहा : 'इसी में रख दो।'

यान ने एक हाथ से गोश्त उठा लिया था और दूसरा जेब में डाला था। सेल्मा की बात सुन कर एकाएक उस ने आँखें उठा-कर सेल्मा के चेहरे की ओर देखा और फिर पूछा : 'कितने ?'

सेल्मा ने रुखाई से कहा : 'सुना नहीं ?'

यान ने हाथ जेबमें से निकाला। उस की मुट्ठी बँधी हुई थी। मुट्ठी-भर सिक्के थे। एकाएक उस ने मुट्ठी उठा कर सिक्के बड़ी ज़ोर से सेल्मा के मुँह पर दे मारे। बोला : 'शायद कुछ कम है। लेकिन तुम चाहो तो गोश्त में से उतना कम कर के दे सकती हो। पैसे मेरे पास और नहीं हैं।' और यह कहते-कहते उस ने दूसरे हाथ का सामान वापस सेल्मा की ओर बढ़ा दिया।

सेल्मा की आँखें एकाएक अवश भाव से बन्द हो गयी थीं। सारा इच्छा-बल लगा कर उस ने आँखें खोलीं और दर्द को दबाते हुए हाथ बढ़ा कर सामान ले लिया। एक बार उस का मन हुआ था कि बाक़ी पैसे छोड़ दे। लेकिन इस तरह वह नहीं छोड़ेगी, कभी नहीं छोड़ेगी! विरोध-एकमात्र ध्रुव-जीवन का सहारा....

उस ने सिक्के बीन कर इकट्ठे किये, भीतर गयी और गोश्त लगभग आधा कर के ले आयी। बिना कुछ कहे उस ने तश्त फिर यान की ओर बढ़ाया। यान ने गोश्त उठाया और मुड़ गया। क्षण-भर बाद सेल्मा ने खिड़की ज़ोर से बन्द कर दी और तब हाथ से टटोल कर अपना चेहरा देखने लगी कि कहाँ-कहाँ सूजा है। एक चौड़ी लाल लकीर उस की हथेली पर छप आयी।

हार वह नहीं मानेगी, कभी नहीं मानेगी। अपमान से तो

और भी नहीं ! और यान कौन होता है उस का अपमान करने वाला, या उस पर क्रोध करने वाला ? मुनाफ़ा वह करती है, मुनाफ़ा सब करते हैं। यान क्या सूवेनिर के नाम पर तरह-तरह का निरर्थक कूड़ा बेच कर मुनाफ़ा नहीं करता ? दाम कम या ज़्यादा हो यह माँग पर निर्भर है। तबीयत पर निर्भर है। सैलानी लोग सिर्फ़ शौक़ के कारण मुँह-माँगे दाम देकर तरह-तरह की फ़िज़ूल चीज़ें ख़रीद लेते हैं। सभी जानते हैं कि दाम चीज़ का नहीं, शौक़ का है; तो इस से क्या यह व्यापार अनैतिक हो जाता है ? दाम माँग का है, माँग विरोध की स्थिति से उत्पन्न होती है, विरोध ध्रुव है और उसे पकड़े ही रहना है····

····ज़रूरत भी शौक़ का दूसरा नाम है। दोनों ही माँगें हैं। अलग-अलग तरह की सही। शौक़ पर मुनाफ़ा—ज़रूरत पर मुनाफ़ा—हाँ, फ़र्क़ तो है—शौक़ के साथ लाचारी नहीं है जब कि ज़रूरत के साथ विकल्प नहीं है।

··· लेकिन विकल्प क्या सचमुच नहीं है ? और जोखिम क्या मैं नहीं उठा रही हूँ यहाँ रह कर ? क्या मेरी ज़रूरत का सवाल नहीं है—और क्या मैं कम लाचार हूँ ?

···फ़ोटोग्राफ़र पागल हो कर मर गया तो मैं क्या कर सकती हूँ ? मैं भी पागल नहीं हो गयी, इसी लिए क्या मैं अपराधी हूँ ?····

सेल्मा के पास तर्क की कमी नहीं थी। लेकिन कुछ था जो कि उसे कोस रहा था। वह भीतर जाकर बैठी थी; फिर बरामदे में आ गयी और चौकियाँ इधर-उधर ठेल-ठालकर, सीधा रास्ता बना कर तेज़ी से लौट-लौट कर बरामदे की लम्बाई नापने लगी। कब रात कितनी घनी हो गयी, उसे कुछ पता नहीं लगा, और काल का प्रवाह ही नहीं, मानो नदी का प्रवाह भी कहीं पीछे

डा. जिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

रह गया। केवल बरामदे में उस के अपने पैरों की आहट ही उस की एकमात्र साथिन रह गयी।

कि सहसा वह बड़े ज़ोर से चौंकी। दरवाज़ा खटखटाया जा रहा था।

क्या करने आया है यान रात में ? सेल्मा का दिल एकाएक ज़ोर से धड़कने लगा और वह एक कुरसी का हत्था पकड़ कर खड़ी हो गयी।

दरवाज़ा फिर खटखटाया गया। अब की बार ज़ोर से।

सेल्मा भीतर गयी। एक नज़र चारों ओर दौड़ा कर उस ने अँगीठी के पास रखी हुई लोहे की सलाख़ उठायी और फिर बरामदे में आ गयी।

दरवाज़ा तीसरी बार खटखटाया गया। सेल्मा की पकड़ सलाख़ पर और कड़ी हो आयी। उसे पीठ की ओट करते हुए उस ने बाँयें हाथ से खिड़की की चिटकनी खोली और पूछा : 'क्या है ?'

यान ने कहा : 'दरवाज़ा खोलो।'

'क्या काम है—इतनी देर रात को ?'

यान ने मानो कुछ चौंकते हुए फिर कहा : 'दरवाज़ा खोलो सेल्मा !' फिर थोड़ी देर रुक कर कहा : 'सेल्मा, मैं माफ़ी चाहता हूँ। ग़ुस्से से मैं अवश हो गया था—उस के लिए शर्मिन्दा हूँ। मैं ने सोच कर देखा है कि तुम्हारा दोष नहीं है।'

सेल्मा थोड़ी देर असमंजस में रही। क्या यह दरवाज़ा खुलवाने का ही ढोंग है ? लेकिन फिर मुट्ठी में पकड़ी हुई लोहे की छड़ से उस के लड़खड़ाते हुए आत्म-विश्वास को टेक मिल गयी और उस ने दरवाज़ा खोल दिया।

यान ने भीतर आ कर कहा : 'तुम ने मेरी जान लेनी चाही

है लेकिन सकी नहीं—सकती नहीं। मैं चाहूँ तो तुम्हारी जान ले सकता हूँ—लेकिन मैं चाहता नहीं हूँ।'

थोड़ी देर दोनों चुप रहे। सेल्मा का दिल फिर धड़कने लगा था। लेकिन स्थिति उस की समझ में नहीं आ रही थी, इसी लिए वह पूरी तरह डर भी नहीं पा रही थी। असमंजस में ही उस ने अपने को सँभाल लिया और वह सतर्क भाव से यान की ओर देखती रही।

यान ने कहा: 'मरेगा तो शायद हम दोनों में से कोई नहीं—तुम्हारी हरक़त के बावजूद अभी तो नहीं लगता कि मैं मरने वाला हूँ। लेकिन अगर सचमुच यह बाढ़ ऐसी ही इतने दिनों तक रही कि मैं भूखा मर जाऊँ, तो तुम बच कर कहाँ जाओगी? और अगर पीछे ही मरोगी, तो तुम समझती हो कि वैसे अकेले मरने में कोई बड़ा सुख है? बल्कि अकेली तो तुम अब भी हो, जब कि मैं नहीं हूँ। और शायद मर ही चुकी हो—जब कि मैं अभी ज़िन्दा हूँ।'

यह कह कर यान ने आँखें उठा कर भरपूर सेल्मा की ओर देखा। सेल्मा ने चाहा कि उस की बात का खण्डन करे, लेकिन कुछ बोल न सकी—एकाएक हाथ ढीले होने से ही उसे ध्यान आया कि उस की मुट्ठी में लोहे की सलाख़ है। उस ने धीरे-धीरे एक ओर झुक कर उसे दीवार के साथ टेक दिया और फिर सीधी हो गयी। फिर उस ने पूरा ज़ोर लगा कर किसी तरह कहा: 'तुम तो माफ़ी माँगने आये थे—यह क्या नये सिरे से अपमान नहीं कर रहे हो?'

यान ने कहा: 'तुम माफ़ी दे कैसे सकोगी? कोई भी जो अपनी बेचारगी नहीं देखता दूसरे को क्षमा नहीं कर सकता। मैं तो तुम्हारी मदद ही कर रहा हूँ।'

थोड़ी देर फिर सन्नाटा रहा—तरह-तरह के विचारों और भावनाओं के बोझ से टीसें मारता हुआ सन्नाटा।

फिर सेल्मा ने तनाव को शिथिल करने के लिए कहा : 'यह तुम्हारे हाथ में क्या है ?'

यान बोला : 'यह—ओह !'

थोड़ी देर ठहर कर फिर उस ने साभिप्राय कहा : 'यह लोहे की छड़ तो नहीं है। लेकिन यही देने तो मैं आया था—यह गोश्त मैं ने पकाया है।'

सेल्मा ने अचकचा कर कहा : 'तो मुझे क्या ? जाओ खाओ।' फिर मानो थोड़ा पसीज कर उस ने जोड़ा : 'तुम ने काफ़ी दाम दे कर ख़रीदा है।'

'इसी लिए साझा करने आया हूँ। अपनी अन्तिम पूँजी दे कर यह अन्तिम भोजन मैं ने ख़रीदा है। इसे अकेला नहीं खा सकूँगा।'

यान थोड़ी देर चुप रहा। 'और इसे पकाना भी कुछ आसान नहीं था—फ़ोटोग्राफ़र की जली हुई दूकान की आँच पर ही यह पका है। इसे ज़रूर ही बहुत स्वादु होना चाहिए—मेरे जीवन के मोल यह ख़रीदा गया और फ़ोटोग्राफ़र के जीवन के मोल पक सका। लो—'

कहते-कहते उस ने हाथ का दस्तेदार टीन सेल्मा के सामने चौकी पर रख दिया। तब सेल्मा को न जाने क्या हुआ कि वह यान को दुतकार कर बाहर निकाल देने के लिए आगे बढ़ी तो उस के कन्धे पर हाथ रख कर उस ने जब कहा : 'यान, तुम मेरे सामने से चले जाओ !' तब उस के स्वर में दुतकार ज़रा भी नहीं थी ! न जाने क्यों वह ख़ुद स्तम्भित हो गयी। ऐसी स्तम्भित कि उस का हाथ यान के कन्धे पर धरा ही रह गया।

और यान ने कहा : 'नहीं, यह अकेले तुम्हीं को नहीं दिये दे रहा हूँ, आधा ही तुम्हें दूँगा—क्योंकि अपमान करने नहीं आया, साझा करने ही आया हूँ। अपना हिस्सा निकाल लो और बाक़ी मुझे दे दो। मैं उधर जा कर खाऊँगा।'

सेल्मा का हाथ धीरे-धीरे यान के कन्धे से फिसलता हुआ गिर गया। यान की ओर देखते-देखते ही उस ने दूसरे हाथ से कुरसी टटोली और एक क़दम पीछे हट कर उस पर बैठ गयी। 'नहीं, यान, तुम अकेले नहीं खाओगे। नहीं तो पहले मुझे इस के दाम लौटा देने होंगे।'

धीरे-धीरे एक बहुत सूक्ष्म व्यंग्यपूर्ण मुसकान यान के चेहरे में झलक गयी। थोड़ा रुक कर उस ने कहा : 'ओह!'

सेल्मा आविष्ट-सी उठ खड़ी हुई। उस 'ओह' के व्यंग्य के तीखेपन ने एकाएक उसे फिर गहरे विद्रोह-भाव से भर दिया और उसी के बल से उस की क्षण-भर पहले की दुर्बलता दूर हो गयी।

लेकिन एकाएक उस ने कहा : 'यान, तुम मुझ से विवाह करोगे?'

यान ने मानो चौंक कर उस की ओर ऐसे देखा जैसे कि उस ने ठीक सुना नहीं। फिर जान लिया कि ठीक ही सुना है।

सेल्मा स्वयं भी ऐसे चौंकी मानो वह समझ नहीं सकी हो कि उस के मुँह से क्या निकल गया है। लेकिन फिर उस ने भी पहचान लिया कि उस के मुख से वही निकला है जो कि उस ने कहा है।

सन्नाटे में वह अनुत्तरित प्रश्न ही गूँजता रहा और पत्थर-सा जम गया। स्वयं ही नहीं जम गया बल्कि उन दोनों को भी उस ने ऐसे शिलित कर दिया कि जब तक उत्तर दे कर

उस के जादू को काटा नहीं जायेगा तब तक कोई हिल नहीं सकेगा।

देर बाद यान ने कहा : 'तुम से विवाह ? यानी तुम्हारी इस सब सड़ती हुई पाप की कमाई से विवाह ? नहीं, मुझे नहीं चाहिए। तुम मेरे अन्तिम भोजन का अपना हिस्सा लो और मुझे छुट्टी दो।' क्षण-भर रुक कर फिर उस ने कहा : 'या कि हिस्सा भी न लो, सारा तुम्हीं रख लो।' और वह मुड़ा और फिर चला गया।

सेल्मा देर तक बैठी उस टीन को देखती रही। उस देखने-देखने में उस ने दो-तीन जीवन जिये और मरे। मानो दूसरा कोई हो कर दो-तीन बार वह जियी और मरी, और फिर मानो अपने-आप में लौट आयी, परायी और अनपहचानी हो कर। और एक बार उस ने कुछ ऐसे ही भाव से अपने हाथ-पैरों और अपने घुटनों की ओर देखा भी—मानो पूछ रही हो कि क्या ये उसी के हैं—कि क्या वह है ?

हवा के झोंके से किवाड़ झूला और बन्द हो कर फिर खुल गया। सेल्मा खिड़की बन्द करने के लिए उठी। खिड़की बन्द कर के दरवाज़ा भी बन्द करने लगी; पर फिर दोनों दरवाज़े उस ने पूरे खोल दिये। बरामदे से लौट कर भीतर गयी। एक काग़ज़ पर उस ने धीरे-धीरे यत्नपूर्वक सँवार कर कुछ लिखा और उसे तह कर के जेब में डाला, फिर अलमारी में से खाने को कुछ और सामान निकाल कर बरामदे में आयी और चौकी पर रखा हुआ टीन भी उठा कर बाहर निकल कर यान की दूकान की ओर बढ़ गयी।

यान दूकान के बाहर ही बैठा था और पानी की ओर देख रहा था। सेल्मा ने सब चीज़ें उस के सामने रखते हुए कहा :

'तुम मुझे न्योता देने आये थे; वह मुझे स्वीकार है। मैं दो तश्तरियाँ भी लायी हूँ। एक में मेरे लिए परोस दो।'

यान थोड़ी देर उस की ओर स्थिर दृष्टि से देखता रहा। क्षण भर सेल्मा को लगा कि वह इनकार कर देने वाला है। फिर उस ने चुपचाप तश्तरी उठायी और टीन में से गोश्त परोसने लगी। फिर उस ने कहा : 'यह क्या है ?'

'यह मेरी ओर से भी है—इस का भी साझा होना चाहिए।'

थोड़ी झिझक के बाद यान ने कहा : 'तो तुम्हीं परोस दो।'

सेल्मा अभी कुछ डाल ही रही थी कि उस ने टोक दिया : 'बस-बस !'

सेल्मा ने पूछा : 'यहीं बैठ कर खा सकती हूँ ?'

यान ने कुछ अस्पष्ट वक्रभाव से कहा : 'पुल कोई मेरा थोड़े ही है ?'

लेकिन थोड़ी देर बाद सेल्मा को भी लगा कि वह कुछ खा नहीं सकेगी—यान के पास बैठ कर किसी तरह नहीं। अपनी तश्तरी उठा कर वह खड़ी हो गयी और बोली : 'मैं उधर ही ले जा रही हूँ—अभी नहीं खा सकूँगी।' और यान कुछ कह सके इस से पहले ही जल्दी से जेब से काग़ज़ निकाल कर उसे यान के पास रखते हुए बोली : 'और यह लो—यह तुम्हारे लिए लायी थी।'

'यह क्या है ?'

'तुम मुझे न्योता देने आये थे पर अपमान कर के चले आये। मैं अपमान करने नहीं आयी, न करूँगी; पर अभी खा नहीं सकूँगी—किसी तरह नहीं !'

सेल्मा तेज़ी से बरामदे की ओर लौटी और तश्तरी चौकी

पर रख कर उस ने धड़ाके से दरवाज़ा बन्द कर लिया। तश्तरी उठा कर वह अन्दर गयी और वहाँ जा कर उस ने चौकी पर तश्तरी रख दी। एक बार कुरसी की ओर देखा कि बैठ जाये, लेकिन फिर बैठी नहीं, वहीं अनिश्चित खड़ी रही। क्योंकि एकाएक उस के आगे एक डगमगाता अँधेरा छा गया— भीतर कहीं बहुत गहरे से एक बुलबुला-सा उठ कर उस के गले तक आ कर फूट गया और वह फफक कर रो उठी।

वही अन्त था। और कुछ पूछने को नहीं था। और कुछ बताने को भी नहीं था। जीवन के मोड़ होते हैं जिन के आगे ज़रूरी नहीं है कि रास्ता हो ही, कभी अन्धी गली भी होती है। सवेरा हुआ, शाम हुई, दूसरा दिन हुआ और फिर तीसरा दिन। सेल्मा न बाहर निकली, न उस ने बरामदे में से बाहर झाँका, न उस ने मन-ही-मन भी यह जिज्ञासा की कि यान क्या कर रहा होगा। या कि आगे क्या होगा। सब-कुछ समाप्त हो चुका था; और उस ने जान लिया था कि सब-कुछ समाप्त हो गया है—स्वीकार कर लिया था कि यही समाप्ति है। यान ने उस का प्रत्याख्यान कर दिया था, और उस ने अपनी सारी कमाई का—क्योंकि उस सब की वसीयत वह यान के नाम लिख कर दे आयी थी। और कहीं कुछ नहीं था! और कहीं कुछ नहीं था····। कोई जिज्ञासा नहीं थी····। कोई उत्तर नहीं था···· कोई ध्रुवता नहीं बची थी क्योंकि कोई विरोध नहीं बचा था। बाहर बाढ़ नहीं थी, और काल का प्रवाह भी नहीं था। केवल एक टूटा हुआ अर्थहीन पुल—कहाँ से कहाँ तक और कब तक! एक टूटा हुआ अर्थहीन पुल जो कि वह स्वयं है—वह,

सेल्मा, जो न कहीं से है, न कहीं तक है—जो है तो यह भी नहीं जानती कि कब तक है।

चौथे दिन जब फिर दरवाज़ा खटखटाया गया तो मानो उस ने पहचाना कि वह इसी की प्रतीक्षा कर रही थी। लेकिन यान ने पुकार कर जो कहा उस की प्रतीक्षा उसे नहीं थी।

'लोग आ रहे हैं—दूर एक नाव दीख रही है। बाढ़ उतर गयी है—सेल्मा! बाहर आओ!'

लेकिन यह मानो समाचार नहीं था। पहेली थी। कौन-सी बाढ़? कौन लोग? कहाँ से आ रहे हैं? फिर भी यन्त्र-चालित-सी सेल्मा ने बाहर जा कर दरवाज़े खोल दिये। और यान के संकेत पर दूर क्षितिज की ओर देखने लगी।

हाँ, नाव, बड़ी नाव, काली-सी नाव और उस में झलकते हुए कई एक काले-काले सिर।....

सेल्मा यान के पास ही काफ़ी देर तक खड़ी रही। नाव इतनी पास आ गयी थी कि उस के लोगों ने शायद उन दोनों को देख लिया था। नाव में-से दो-तीन आदमी हाथ हिला कर इशारा कर रहे थे। लेकिन इशारे का उत्तर देने का मानो सेल्मा को ध्यान ही नहीं हुआ; उस का बोध यहीं तक था कि अभी थोड़ी देर में यह सहायता की टोली उन तक पहुँच जायेगी और उन का उद्धार हो जायेगा—यानी उस का और यान का एक-दूसरे से उद्धार हो जायेगा।

उस ने एकाएक यान की ओर मुड़ कर कहा: 'यान, अब तो मेरा कुछ नहीं है। अब मैं फिर पूछती हूँ, मुझे स्वीकार करोगे?'

यान ने एक बार उस की ओर देखा। फिर जेब में हाथ डाला और सेल्मा का दिया हुआ काग़ज़ निकाला, यत्नपूर्वक उसे फाड़ कर उस की चिन्दियाँ कीं और उन्हें हवा में उड़ा दिया। इस के अतिरिक्त और कोई उत्तर उस ने सेल्मा को नहीं दिया। फिर वह मानो पूरे एकाग्र मन से हाथ हिला कर नाव वालों के इशारों का जवाब देने लगा।

इस से आगे जो कुछ हुआ सब मानो स्वप्न में हुआ। स्वप्न में ही सेल्मा ने पहचाना कि उसे सहारा दे कर नाव में उतारा गया है, कि उस के बाद यान भी उतरा है, कि वे दोनों भी नाव में बैठे हैं, और नाव पुल से हट रही है। स्वप्न में ही उस ने देखा कि वह टूटा पुल उन से दूर हटता हुआ आकाश का अंग बनता जा रहा है—उन के जीवन का अंग नहीं, केवल सूने आकाश का अंग।

पुल को देर तक देखने के बाद उस ने सहसा मुड़ कर यान की ओर देखा कि यान से आँखें मिलते ही अररा कर उस का स्वप्न टूट गया। सहसा एक अप्रत्याशित स्निग्ध मुसकान यान के चेहरे पर खिल गयी थी। धूप से भी अधिक खिली हुई, आकाश से भी अधिक गहरी, नदी से भी अधिक द्रव एक मुसकान, जो केवल उन दोनों के बीच थी....जिस में कहीं अस्वीकार नहीं था, प्रत्याख्यान नहीं था, विरोध नहीं था—पर ध्रुवता थी, एक अटल स्वीकारी ध्रुवता जैसे अन्तहीन आकाश में बसा हुआ आलोक....

नहीं, अन्त वहाँ पुल पर नहीं था; अन्त यह था जो कि नया आरम्भ था—अन्धी गली वह नहीं थी, मोड़ का कोई सवाल ही नहीं था क्योंकि रास्ता ही नहीं था क्योंकि यह आरम्भ तो खुला आकाश था....जिस में से एक नया जीवन

उपजा—एक नया अनुभव, एक नयी गृहस्थी, तीन सन्तानें; सुख-दुःख के साझे का एक जाल जिस में जीवन की अर्थवत्ता के न जाने कितने पंछी उन्होंने पकड़े····फिर वह दिन आया कि यान नहीं रहा; पर वह अर्थवत्ता नहीं मिटती, पाये हुए सारे अर्थ चाहे छिन जायें। जीवन सर्वदा ही वह अन्तिम कलेवा है जो जीवन दे कर ख़रीदा गया है और जीवन जला कर पकाया गया है और जिस का साझा करना ही होगा क्योंकि वह अकेले गले से उतारा ही नहीं जा सकता—अकेले वह भोगे भुगता ही नहीं। जीवन छोड़ ही देना होता है कि वह बना रहे और भर-भर कर मिलता रहे; सब आश्वासन छोड़ देने होते हैं कि ध्रुवता और निश्चय मिले। और इतर सब जिया और मरा जा चुका है, सब की जड़ में अँधेरा और डर है; यही एक प्रत्यय है जो नये सिरे से जिया जाता है और जब जिया जाता है तब फिर मरा नहीं जाता, जो प्रकाश पर टिका है और जिस में अकेला-पन नहीं है····

खिड़की के बाहर बर्फ़ का विस्तार। वैसी ही सफ़ेद अछूती बर्फ़, जिसे क्वाँरी बर्फ़ कहते हैं। क्वाँरा, सफ़ेद, सूना, बेजान विस्तार। उस अछूती सफ़ेदी में कुछ ऐसा था जो कि झूठ था, या कि रह-रह कर योके को ही ऐसा भान हो आता था कि वह झूठ है। शायद वह बर्फ़ के विस्तार का झूठ नहीं था, क्योंकि, उस का सूनापन तो उतना ही नीरन्ध्र सच था जितना कि मृत्यु। शायद वह झूठेपन का बोध सेल्मा की कहानी के प्रति उस के विद्रोह का ही स्थानान्तरित रूप था।

लेकिन सेल्मा की कहानी के प्रति विरोध क्यों ? क्या वह मानती है कि वह कहानी झूठ है ? नहीं, ऐसा तो वह नहीं कह सकती। शायद कहानी जिस ढंग से कही गयी—टुकड़ों-टुकड़ों में, और बीच-बीच के अन्तरालों में मानो मृत्यु की ठोस काली छाया के विराम-चिह्नों से युक्त—उसी से उस की सचाई का बोध कुछ खण्डित हो गया। कहानी में कुछ ऐसा सम्पूर्ण और अखण्ड और अबाध्य रूप से एक दिशा में बढ़ने वाला है कि उस का रुकना या हिस्सों में बँटना असम्भव है। या तो कहानी के विराम झूठ हैं, या फिर कहानी ही कैसे सच हो सकती है ?

योके ने कहा था कि सेल्मा दूसरी दुनिया की बात कह रही है। दूसरी दुनिया क्या सच है ? क्या उस का दूसरा होना ही झूठा होना नहीं है—उस परिस्थिति में जिस में कि यह दुनिया, देश-काल का यह विशेष बिन्दु, जीवन का यह एक निःसंग जड़ित क्षण ही एक मात्र अनुभूत सचाई है ? लेकिन यही तो सब से बड़ा झूठ है, यही तो सब से अधिक अग्राह्य है। यह दुनिया झूठ है, क्या इस लिए यह मान लें कि दूसरी दुनिया सच है ? सपना झूठ है तो सपने में जो लोक देखा उस को सच मान लेना होगा ? मोह की अवस्था में, झूठ में जो कल्पना की गयी वह क्या और भी अधिक झूठ नहीं है—झूठ का भी झूठ नहीं है ?

उखड़ती साँसों के अनेक अन्तरालों में सेल्मा थोड़ी-थोड़ी कर के अपनी बात कह गयी थी। यह उस का आत्मानुशासन ही था कि साँसों का उखड़ापन उखड़ा नहीं जान पड़ता था, केवल एक मौन जान पड़ता था। लेकिन इसी अनुशासन के कारण शायद उस की बात में वह व्यथा-स्पन्दित सहजता नहीं रहती थी जो योके के लिए उसे सच बना सकती""।

एक बार तो कहानी सुनते-सुनते उस का यह विरोध-भाव एकाएक इतना प्रबल हो आया था कि उस ने सेल्मा को टोक भी दिया था। 'दुःख और कष्ट की बात—लेकिन दुःख और कष्ट सच कैसे हैं अगर उन का बोध ही नहीं है ?'

सेल्मा थोड़ी देर चुप रही थी। फिर उस ने कहा था : 'यही तो मैं भी कहती हूँ—लेकिन दूसरी तरह से। बोध में-से ही दर्द की सचाई है।' और थोड़ी देर रुक कर : 'और मृत्यु की भी।'

योके ने इस से आगे सुनना नहीं चाहा था, इतना भी सुनना नहीं चाहा था। वह झपटती हुई उठ कर दूसरे कमरे में चली गयी थी। लेकिन काम में अपने को उलझा नहीं सकी थी—काम कोई विशेष थे ही नहीं। फिर आ कर दो-एक बार सेल्मा को देख गयी थी और चली गयी थी, और अन्त में फिर आ कर उस के पास बैठ गयी थी।

योके अपने से कहती : 'वह वहाँ सेल्मा है और यह यहाँ मैं हूँ। वह सेल्मा है, सेल्मा ही है, यह मैं नहीं जानती—क्योंकि यह भी नहीं जानती कि वह जीती है या मर चुकी है—वह ऐसी निश्चेष्ट निस्पन्द पड़ी है—लेकिन उस के चेहरे में कोई परिवर्तन नहीं आया है और उस की आँखें बन्द हैं। सुना है—आँखें खुल जाती हैं···लेकिन मैं क्यों उसे देख रही हूँ ? क्या अपने को यही बोध कराने के लिए कि मैं मरी नहीं हूँ ? जीवन के अनुभव के लिए, अपने जीते होने का अनुभव करने के लिए, अपने मैं-पन को पहचानने के लिए ? मैं-पन का बोध और जीवित-पन का बोध, दोनों का एक साथ अनुभव करने के लिए—दोनों को एक अनुभूति में ढाल कर उस इकाई को भोगने के लिए ?'

और प्रश्न को इस रूप में अपने सामने रख कर वह बेचैन हो कर उठ खड़ी होती और इधर-उधर चक्कर काटने लगती। क्योंकि यहीं कहीं कुछ झूठ था—एक धोखा था—क्योंकि इन दो अलग-अलग अनुभवों का मेल किसी तरह भी इस एक अनुभूति के बराबर नहीं होता कि 'मैं जीवित हूँ।' 'मैं जीवित हूँ'—की अखण्ड अनुभूति तभी हो सकती है जब व्यक्ति उस के प्रति चेतन न हो। क्योंकि कोई भी, किसी प्रकार की भी आत्म-चेतना अपने को अपनी अनुभूति से अलग कर देती है, तटस्थ कर देती है, साक्षी बना देती है; और जो साक्षी है वह भोक्ता कैसे है? जीवन की अनुभूति तभी हो सकती है जब अनुभव कर रहे होने का बोध न हो। और वहाँ बैठी हुई योके—उसे न केवल बराबर यह बोध था कि वह अनुभव कर रही है, वह चाहती थी कि वह अनुभव करे! और यह बोध, यह चाहना ही जीवन को झूठा किये देता था।....झूठ, झूठ, झूठ!

बर्फ़—उजली बर्फ़, धुँधली बर्फ़, काली बर्फ़—मानो काल का प्रवाह बर्फ़ की अलग-अलग रंग की झाईं है—उस से अलग समय की कोई सत्ता या सत्त्वमयता नहीं है। या फिर जैसे बाहर बर्फ़ की झाइयाँ हैं वैसे ही भीतर सेल्मा के चेहरे की झाइयाँ हैं—उजली, धुँधली, काली...यही दिनों का बीतना है; दिनों का और रातों का बीतना, जिस बीतने को योके अपनी अर्थ-हीन साँसों से नाप रही है।....

योके ने नहीं जाना कि सेल्मा कब मर गयी। जानने का कोई उपाय नहीं था। शायद स्वयं सेल्मा ने भी नहीं जाना—क्योंकि उस का मरना किसी एक बिन्दु पर नहीं था। योके दूसरे

कमरे में थी जब एकाएक उस ने जाना, तर्कातीत गहरे और ध्रुव निश्चय से जाना कि सेल्मा मर चुकी है, उसे सहसा लगा कि कमरे की गन्ध बदल गयी है—आसन्न मृत्यु की गन्ध उस ने कई दिन से पहचान रखी थी, इतनी घनिष्ठता के साथ कि अब उस की अनुभूति की धार भी कुण्ठित हो गयी थी—पर अब उसे लगा कि यह गन्ध कुछ दूसरी है—मानो मृत्यु की सान पर चढ़ कर उस का बोध तीखा हो आया था।

एकाएक इस बोध के थपेड़े से योके क्षण-भर के लिए लड़-खड़ा गयी। फिर उस के भीतर तीव्र प्रतिक्रिया जागी कि उसे तुरन्त कुछ करना चाहिए, कि वह कुछ करेगी नहीं तो पागल हो जायेगी। उस ने लपक कर सेल्मा के कमरे का दरवाज़ा बन्द कर दिया और उसे पीठ से दबाती हुई खड़ी हो गयी। वह मृत्यु को बन्द कर देगी उस कमरे में, मृत्यु-गन्ध को वहीं दफ़ना देगी—वह नहीं सह सकती उसे!

लेकिन वह काफ़ी नहीं था। वह मृत्यु-गन्ध मानो सर्वत्र भर रही थी। योके ने एक कम्बल और चादर से दरवाज़े के जोड़ और दरारें बन्द कर देने का यत्न किया, लेकिन उसे लगा कि ये कपड़े भी उसी गन्ध से बस गये हैं। उस की मुट्ठियाँ बँध गयीं। उस ने ज़ोर से एक घूँसा कम्बल पर मारा; लेकिन मानो चोट न लगने से उसे सन्तोष नहीं हुआ और वह दोनों मुट्ठियों से दरवाज़े को पीटने लगी। एक कड़ुवा आक्रोश उस के भीतर उमड़ आया; न जाने कब पुरुषों के झगड़ों में सुनी हुई गालियाँ उसे याद हो आयीं और वह उन्माद की-सी अवस्था में ईश्वर का नाम ले-ले कर गालियों को दोहराने लगी और साथ-साथ दरवाज़े पर घूँसे मारने लगी।

व्यर्थ। सब व्यर्थ। वह मृत्यु-गन्ध नहीं दबती, न दबेगी,

सब जगह फैली हुई है, सब-कुछ में बसी हुई है। सब-कुछ मरा हुआ है, सड़ रहा है, घिनौना है—बेपनाह है....

एकाएक योके को लगा कि वह गन्ध और कहीं से नहीं आ रही है, उसी में है—उसी की देह में-से आ रही है। वह दरवाज़े से उठ गयी और खिड़की के पास गयी। फिर उस ने एक गिलास उठा कर खिड़की के बाहर से उस में बर्फ़ भरी और बर्फ़ की मुट्ठियाँ बाँध कर उस से अपने हाथ, अपनी बाँहें, अपना चेहरा रगड़ने लगी....व्यर्थ, वह गन्ध छूटती नहीं, वह योके में भीतर तक बस गयी है। वह योके की अपनी गन्ध है—योके ही वह गन्ध है...उस ने एक बार विमूढ़ भाव से अपने हाथ की ओर देखा, फिर गिलास को उठा कर सूँघा—उफ़, बर्फ़ भी मृत्यु-गन्ध से भरी हुई थी। या कि उस के स्पर्श से ही वह गन्ध बर्फ़ में भी बस गयी है!

केवल मृत्यु की प्रतीक्षा—मरने की प्रतीक्षा, सड़ने और गन्धाने की प्रतीक्षा...वह गन्ध पहले ही सब जगह और सब-कुछ में है और हम सर्वदा मृत्यु-गन्ध से गन्धाते रहते हैं।....

वह और मृत्यु-गन्ध—अकेली वह और सर्वत्र व्यापी हुई मृत्यु-गन्ध—गन्ध के साथ अकेली वह।

एक उन्मत्त अतिमानवी निश्चय से भर कर योके ने कम्बल और चादर उठा कर दरवाज़ा खोल दिया। वह सेल्मा को उठा कर ईश्वर के मुँह पर दे मारेगी—कहेगी कि लो अपनी सड़ी हुई, गन्धाती हुई मृत्यु, और छोड़ दो मुझे मेरे अकेलेपन के साथ! लेकिन दो क़दम आगे बढ़ कर ही वह ठिठक गयी, मानो लकवे से जड़ित हो गयी। उसे लगा कि सेल्मा की खुली आँखें एक-टक उसे देख रही हैं, जैसे उस दिन देख रही थीं जब सेल्मा ने पूछा था, 'लेकिन तुम रुक क्यों गयीं?'

योके सेल्मा के पलंग की ओर और नहीं बढ़ सकी; ईश्वर के विरुद्ध ही उस का आक्रोश फिर प्रबल हो आया। थुड़ी है ईश्वर पर जो उसे इतना अकेला कर के भी अकेला नहीं छोड़ रहा है, जो एक लाश की आँखों में छेद कर के उन के भीतर से मुझे झाँक रहा है, मुझ पर जासूसी करने आया है—थुड़ी है !

मुझे इतना अकेला कर के··· अकेला होना—मृत्यु के साथ अकेला होना—मृत्यु के सम्मुख अकेला होना—मृत्यु में अकेला होना। इस चरम अकेलेपन और स्वयं मृत्यु में क्या अन्तर है ? क्या हुआ अगर ईश्वर चोरी से देख रहा है, उस अकेली मृत्यु को—क्या ईश्वर भी मरा हुआ नहीं है ?

योके ने सहारा लेने को हाथ बढ़ाया। लेकिन किसी तरफ़ कोई सहारा नहीं था और पलंग की ओर बढ़ना सम्भव नहीं था। वह असहाय-सी वहीं फ़र्श पर बैठ गयी।

वह थोड़ी देर की बात भी हो सकती है और घंटों की भी कि योके यों फ़र्श पर बैठी रही। अंगों की चुनचुनाहट ने उसे सचेत किया। वह किसी तरह उठ कर खड़ी हुई और लड़-खड़ाती हुई दरवाज़े की चौखट तक आयी, वहाँ चौखटे के सहारे खड़ी होकर उस ने सुन्न पड़ी टाँगों को सीधा किया और कुछ सँभल कर अपने पीछे दरवाज़ा धीरे से बन्द कर दिया। न जाने क्यों उस का ध्यान कमरे में टँगे हुए बड़े शीशे की ओर गया—खिड़की इतनी देर तक खुली रहने से उस पर नमी जम गयी थी और वह धुँधला हा कर कोहरे की चादर-सा जान पड़ रहा था। याके ने हथेली से मल कर उस में झाँकने लायक़ जगह बनायी; पहले अपनी परछाहीं के पैरों की ओर देखा और फिर धीरे-धीरे नज़र उठाती हुई परछाहीं की आँखों से आँखें मिलायीं और एकाएक मुड़ गयी।

डा. [illegible]
[illegible]
[illegible]

एक नये निश्चय से भर कर उस ने सेल्मा के कमरे का दरवाज़ा खोला, कम्बल सेल्मा की देह पर उढ़ाया और उसी में लपेट कर देह को बाँहों में उठा लिया। क्षण-भर उसे भ्रम हुआ कि उस ने कम्बल सूना ही उठा लिया है। लेकिन पलंग पर कुछ नहीं था, सेल्मा का भार ही इतना रह गया होगा। दरवाज़े की ओर बढ़ कर उस ने कोहनी से ठेल कर उसे खोला और बाहर निकल आयी।

नहीं, खोदने की कोई ज़रूरत नहीं थी—अभी वह प्रयत्न भी व्यर्थ था। अभी केवल बर्फ़; अनन्तर जब बर्फ़ पिघलेगी तब क़ब्र खोद कर दफ़नाना होगा, लेकिन अभी कुछ नहीं।···

योके ने लाश को वहीं बर्फ़ पर लिटा दिया, फिर अन्दर जा कर एक डोल ले आयी और उसी से खोद कर बर्फ़ में खाई बनाने लगी। थोड़ी देर बाद उस ने लाश को उस में लिटा दिया और डोल भर कर बर्फ़ उठायी कि ठिठक गयी।

क्या कोई प्रार्थना उसे याद है? क्या प्रार्थना का भाव भी उस के मन में है? क्या वह ईश्वर को जानती या मानती भी है, इस से अधिक कि उस का नाम ले कर थूके! ईश्वर केवल एक अभ्यास है, और उस के नाम पर थूकना भी अभ्यास है····

'मुझे क्षमा कर दो!' उसे याद आया कि सेल्मा ने उस से कहा था। सेल्मा ने, जब कि कभी भी कोई भी परिस्थिति ऐसी आयी थी जिस में किसी को किसी से क्षमा माँगनी हो, तो वह सेल्मा से योके के क्षमा माँगने की ही थी।

योके ने किसी तरह कहा: 'क्षमा करो, सेल्मा—' और बर्फ़ का डोल उस पर उलटा दिया। फिर वह तेज़ी से डोल भर-भर कर उस पर डालने लगी।

····क्या कहीं भी ईश्वर है, सिवा मानवों के बीच के इस

परस्पर क्षमा-याचना के सम्बन्ध को छोड़ कर ? यह क्षमा तो अभ्यास नहीं है, याचना भी अभ्यास नहीं है; तब यह सच है और ईश्वर है तो कहीं गहरे में इसी में होगा···पर क्या क्षमा, कैसी क्षमा, किस से क्षमा ? मैं जो हूँ वही हूँ; और सेल्मा—सेल्मा मर चुकी है—है ही नहीं। फिर भी क्षमा सेल्मा से, ईश्वर से नहीं जो कि बीमार है और गन्धाता है—मृत्यु-गन्धी ईश्वर···

लाश जब बिलकुल ओझल हो गयी तो योके ने डोल रख कर पीठ सीधी की और एक बार मुड़ कर घर की ओर देखा : घर अब भी बर्फ़ के भीतर की एक गुफा मात्र था जिस के द्वार से निकल कर वह बाहर आयी थी और जिस में फिर लौट जायेगी—अब की बार अकेली। एकाएक सेल्मा के प्रति एक व्यापक करुणा का भाव उस के मन में उदित हो आया। सेल्मा थी, और अब नहीं है ! बेचारी सेल्मा !

लेकिन एकाएक योके ने अपने को झटक कर इस पिघलने के भाव को रोक दिया। करुणा ग़लत है, बचाव उस में नहीं है। घृणा भी नरक का द्वार है तो दया भी नरक का द्वार है। मैं दया कर के भी वहीं गिरूँगी जहाँ घृणा करके गिरती !····

एकाएक योके को उस मठवासी भिक्षु की बात याद आयी जिस ने साधना के लिए अपने को एकान्त कोठरी में बन्द कर लिया था; लेकिन एक दिन एकाएक मानो जाग कर, अपने अकेलेपन को पहचान कर और अपने-आप से डर कर अपनी कोठरी से सुरंग खोदना आरम्भ कर दिया था। सारा जीवन सुरंग खोदते-खोदते जब अन्त में एक दिन उसे खुली-सी जगह मिलती जान पड़ी और वह उस में सिर डाल कर ऊपर उठा—तो पहुँचा केवल उसी मठ की एक दूसरी एकान्त गुफा में जो

कि उसी प्रकार बन्द थी जिस प्रकार उस की अपनी कोठरी ! अन्तर इतना ही था कि इस दूसरी कोठरी में एक पुराना लोटा और एक ठठरी भी पड़ी हुई थी—किसी दूसरे साधक की जो उस एकान्त में मर गया था....

क्या इतनी ही है पुरुषार्थ की उपलब्धि—एक अकेली गुफा से बढ़ कर एक दूसरी गुफा तक पहुँचना जिस के अकेलेपन को एक ठठरी दोहरा रही है ?

सेल्मा ने कहा था : 'वरण की स्वतन्त्रता कहीं नहीं है, हम कुछ भी स्वेच्छा से नहीं चुनते हैं।' ईश्वर भी शायद स्वेच्छा-चारी नहीं है—उसे भी सृष्टि करनी ही है क्योंकि उन्माद से बचने के लिए सृजन अनिवार्य है ; वह सृष्टि नहीं करेगा तो पागल हो जायेगा।....

लेकिन यहाँ तो रचना की बात नहीं है। मृत्यु की बात है—मृत्यु, मृत्यु, मृत्यु....क्या उस में भी कहीं रचना के लिए, सृष्टि के लिए गुंजाइश है ? क्या यही रहस्य था जिस का कुछ आभास सेल्मा को मिला था—कि वरण की स्वतन्त्रता नहीं है लेकिन रचना फिर भी सम्भव है और उस में ही मुक्ति है ?

योके ने फिर एक डोल भर कर बर्फ़ उठायी और धीरे-धीरे सेल्मा की ओझल देह पर डाल दी। यह मानो अनावश्यक था, अतिरिक्त था; लेकिन इस अनावश्यक अतिरिक्तता ने ही उस मदफ़न को सम्पूर्णता दी—अन्तिम रूप दिया।

भीतर लौटने से पहले योके ने एक बार चारों ओर नज़र फिरा कर देखा—कि बर्फ़ की क्षिति-रेखा पर, एक काले बिन्दु पर उस की दीठ अटक गयी।

वह बिन्दु हिल रहा है। पहाड़ की रीढ़ के पार से कोई आ रहा है। मानो किसी दूसरी दुनिया से एक नाम गूंजा—

पॉल सोरेन। हाँ, पॉल ही है।

तो यह अन्त है। अजब बात है कि एक का मदफ़न और दूसरे का निस्तार एक साथ एक ही क्षण में होता है!

लेकिन किस का मदफ़न और किस का निस्तार? कौन मर रहा है और कौन मुक्त हो गया है?

एकाएक उसे दूर से एक पुकार सुनाई पड़ी। कैसी अकल्पनीय और अविश्वास्य है यह पुकार उस सन्नाटे में! पॉल चिल्ला रहा है—हाथ हिला कर उसे अपनी पहचान और अपनी ख़ुशी की पहचान कराना चाहता है—और पीछे प्रकट होते हुए तीन-चार और काले बिन्दुओं को प्रोत्साहन दे कर तेज़ी से आगे बढ़ाना चाहता है....

पॉल सोरेन, योके का साथी और सह-साहसिक पॉल। लेकिन कौन है पॉल? कौन है यह अजनबी जो इस तरह चिल्लाता हुआ और इशारे करता हुआ उस की ओर बढ़ रहा है।

कहीं वरण की स्वतन्त्रता नहीं है। हम अपने बन्धु का वरण नहीं कर सकते—और अपने अजनबी का भी नहीं....हम इतने भी स्वतन्त्र नहीं हैं कि अपना अजनबी भी चुन सकें....

अजनबी, अनपहचाना डर....क्या हम इतने भी स्वतन्त्र हैं कि अजनबी से पहचान कर लें?

●

डा. डिल्ली रमण रेग्मी
कल्याणी रेग्मी स्मारक
पुस्तकालय

योके

•

दूकान में काफ़ी भीड़ थी। कई दिन वह बन्द रही थी, आज भी खुली थी तो कोई भरोसा नहीं था कि कितनी देर तक खुली रहेगी। और इस का कौन ठिकाना था कि बन्द न भी हो तो थोड़ी देर में सब माल चुक न जायेगा? सब लोग सहमे-सहमे से थे, आतंक के वातावरण में प्रकट रूप से कोई ठेलमठेल नहीं हो रही थी। लेकिन यह भाँपना कठिन नहीं था कि सभी गाहकों के लिए उस दूकान में आना या सौदा ख़रीदने की कोशिश प्राण-रक्षा की दौड़ की ही एक मंज़िल थी। सभी जानते थे कि जो पिछड़ जायेगा वह मर जायेगा; आगे बढ़ कर किसी तरह जो ख़रीदा जा सके ख़रीद लेने में ही ख़ैरियत है।

दूकान गली में थी। उस गली में जर्मनों का आना-जाना नहीं था, लेकिन शहर पर उन का अधिकार होने के बाद से जो आतंक था उस की लपट से वह गली भी बची नहीं थी। उसी आतंक के कारण दूकान जब बन्द होती थी तब बन्द होती थी और जब खुलती थी तब खुलती थी। उसी के कारण चीज़ों के दाम भी बहुत

डा॰ डिल्ली स्मरण रैम्मी
कल्याणी रेश्मी स्मारक
पुस्तकालय

अधिक नहीं बढ़ते थे—माल जब चुक जाता था तब चुक जाता था। पिछवाड़े कहीं कभी लुक-छिप कर चोर-बाज़ारी होती भी हो तो सामने उस का कोई लक्षण नहीं था। यों चोर-बाज़ारी जितनी चौड़े में होती है उतनी लुक-छिप कर नहीं होती, यह सभी जानते हैं : गली में जोखम ज्यादा ही होता है !

भीड़ बहुत थी, लेकिन प्रतियोगी भाव के अलावा भी भीड़ में सब अकेले थे। बुझे हुए बन्द चेहरे, मानो घर की खिड़कियाँ ही बन्द न कर ली गयी हों बल्कि परदे भी खींच दिये गये हों; दबी हुई भावनाहीन पर निर्मम आवाज़ें, मानो जो माँगती हों उसे ज़ंजीर से बाँध लेना चाहती हों। अजनबी चेहरे, अजनबी आवाज़ें, अजनबी मुद्राएँ, और वह अजनबीपन केवल एक-दूसरे को दूर रख कर उस से बचने का ही नहीं है, बल्कि एक-दूसरे से सम्पर्क स्थापित करने की असमर्थता का भी है—जातियों और संस्कारों का अजनबीपन, जीवन के मूल्य का अजनबीपन।

काले, गोरे और भूरे चेहरे, काले, लाल, पीले, भूरे, गेहुँए, सुनहले और धौले बाल, रँगे-पुते और रूखे-खुड्ढे चेहरे। चुन्नट-दार, इस्तरी किये हुए और सलवट-पड़े कपड़े; चमकीले और कीच-सने, चरमराते या फटफटाते या घिसटते हुए जूते। और चेहरों में, आँखों में, कपड़ों में, सिर से पैर तक हर अंग की हर क्रिया में निर्मम जीवैषणा का भाव-मानो वह दूकान सौदे-सुलुफ़ या रसद की दूकान नहीं है बल्कि जीवन की ही दूकान है।

जगन्नाथन् ने जैसे-तैसे कुछ सामान ख़रीद लिया था। एक बड़ा टुकड़ा पनीर का, कुछ मीठी टिकियाँ, थोड़ी सूखी रोटी। इन्हें अपने सामने रखे वह दीवार के साथ सजी हुई चीज़ों की

ओर देख रहा था कि और क्या वह ले सकता है, कि एकाएक दूकान के पहले ही तने हुए वातावरण में एक नया तनाव आ गया। जगन्नाथन् ने भी मुड़कर उसी ओर देखा जिधर और कई लोग देखने लगे थे।

आगन्तुका के कपड़े कुछ अस्त-व्यस्त थे। लेकिन ध्यान उन की ओर नहीं जाता था, ध्यान जाता था उस के चेहरे और उस की आँखों की ओर जो कि और भी अस्त-व्यस्त थीं—उस की आँखों में मानो पतझर के मौसम की एक समूची वनखण्डी बसी हुई थी। वह खुली-खुली आँखों से बिखरी हुई दृष्टि से चारों ओर देख रही थी। सभी को देखते हुए उस की आँखें जगन्नाथन् तक पहुँचीं और उसे भी उस ने सिर से पैर तक देख लिया। उस दृष्टि में कुछ था जिस से एक अशान्त, अस्वस्ति भाव जगन्नाथन् के भीतर उमड़ आया; लेकिन वह न उस दृष्टि को समझ सका न उस के प्रति होने वाली अपनी प्रतिक्रिया को। यह अपने-आप भी दुविधा का कारण होता, लेकिन इस के पीछे जगन्नाथन् ने अर्द्धचेतन मानस से यह भी पहचाना कि लोग आपस में कुछ कह रहे हैं, और जो कह रहे हैं उस का विषय यह आगन्तुका ही है। जगन्नाथन् सुन भी रहा है, पर मानो सुने हुए की कोई छाप भी उस के नाम पर नहीं पड़ रही है, केवल वह अस्वस्ति भाव फैल कर उस की सारी चेतना पर छाया जा रहा है।

एकाएक आगन्तुका ने अपने निचले होठ से चिपका हुआ सिगरेट अलग किया और जगन्नाथन् के खरीदे हुए पनीर में उसे रगड़ कर बुझा दिया, फिर अनमने भाव से सिगरेट को पनीर में ही खोंस कर उस ने जगन्नाथन् की ओर देखा।

जगन्नाथन् दंग रह गया। फिर धीरे से पनीर का टुकड़ा

उठाते हुए उस ने हारे हुए स्वर से कहा : 'यह देखो तुम ने क्या कर दिया है !'

आगन्तुका ने पनीर का टुकड़ा उस के हाथ से ले लिया और फिर उसे फ़र्श पर गिर जाने दिया। फिर वह एकाएक मुड़ कर बाहर की ओर दौड़ी।

कुछ लोग हँस पड़े। पल-भर विमूढ़-सा रह कर जगन्नाथन् भी अपना सामान उठा कर उस के पीछे लपका। पीछे से किसी ने आवाज़ कसी : 'फाँस लिया !

एक दूसरी आवाज़ आयी, उपहास से भरी हुई : 'वह भी तो बड़ा उतावला जान पड़ रहा है। दिन-दहाड़े पीछा कर रहा है।'

बाहर निकलते हुए जगन्नाथन् की चेतना ने इन आवाज़ों को भी ग्रहण किया। कुछ देर पहले सुनी हुई बातें भी उभर कर उस की चेतना में आ गयीं। उस ने जान लिया कि आगन्तुका वेश्या है।

क्या वह लौट जाये ? पनीर तो नष्ट हो चुका है। उस स्त्री ने जो किया उस का कारण जान कर भी अब क्या होगा ? और वह उस का पीछा कर उसे पकड़ भी पायेगा तो क्या करेगा ?

लेकिन वह अपने-आप रुक गयी थी। वह बड़े ज़ोर से हाँप रही थी और उस के चेहरे पर यह ज्ञान स्पष्ट लिखा हुआ था कि जिस गली में वह घुस आयी है वह अन्धी गली है और अब वह बच कर नहीं भाग सकती—उसे अपना पीछा करने-वाले की ओर ही लौटना होगा। पास ही की सीढ़ी पर वह बैठ गयी और सिकुड़ गयी, जैसे मार खाने के लिए। जैसे कभी कुत्ता दुबककर बैठ जाता है, जब वह निश्चय पूर्वक जानता है कि वह बच नहीं सकेगा और उसे मार पड़ेगी ही।

जगन्नाथन् ने उस के पास पहुँच कर सधे हुए, मृदु स्वर में पूछा : 'वह तुम ने क्या किया—क्या लाचारी थी ?'

'मुझे क्या मालूम था कि वह पनीर है ?' स्वर उद्धत था। मैं समझी कि यों ही रद्दी कुछ पड़ा होगा।'

इस बात का विश्वास करना कठिन था। फिर भी जगन्नाथन् ने कहा : 'लेकिन जब मैं ने तुम्हें दिखाया तब तुम इतना तो कह सकती थीं कि-तुम्हें खेद है ?' वह मेरा अगले तीन दिन का खाना था। मैं-मैं कोई अमीर नहीं हूँ।'

स्त्री ने तीखी दृष्टि से उस की ओर देखा। कुछ बदले हुए स्वर में बोली : 'ज़रूरी था।'

'क्या ज़रूरी था ?' जगन्नाथन् को सन्देह हुआ कि कहीं यह स्त्री पागल तो नहीं है ?

'ज़रूरी था। मुझे जाना है, मेरी पुकार हो गयी है।'

जगन्नाथन् और भी उलझन में पड़ गया। स्त्री कहती गयी : 'लेकिन तुम तो मेरा पीछा कर रहे थे। तुम तो मुझे मारना चाहते थे—मारते क्यों नहीं ? लो, यह मैं हूँ—मारो !'

जगन्नाथन् ने लज्जित स्वर में कहा : 'नहीं, मैं नहीं चाहता था, मैं तो—मैं तो सिर्फ़—'

'या कि—या कि तुम भी इसी लिए—वे लोग जो कह रहे थे क्या ठीक कह रहे थे ?'

थोड़ी देर जगन्नाथन् प्रश्न नहीं समझा। फिर बाढ़ की तरह उस का अर्थ स्पष्ट हो गया। वह बोला : 'तुम ऐसा सोच भी कैसे सकती हो ? मैं जीवन में कभी नहीं गया किसी—'

वह कहना चाहता था कि वह कभी वेश्या के पास नहीं गया। लेकिन 'वेश्या' शब्द पर उस की वाणी अटक गयी। उस स्त्री के सामने वह उस शब्द को ज़बान पर नहीं ला सका।

स्त्री ने स्थिर आँखों से उस की ओर देख कर पूछा : 'तब तुम तो सिर्फ़ क्या ?'

'मैं, मैं—मैं तो—मैं नहीं जानता कि क्या !'

स्त्री थोड़ी देर एक-टक उस की ओर देखती रही और फिर खिलखिलाकर हँस पड़ी। फिर उतने ही अप्रत्याशित ढंग से वह हँसी ग़ायब हो गयी और स्त्री का चेहरा पहले-सा हो आया। व्यथा की एक गहरी रेखा उस पर खिंच गयी। स्त्री ने जेब में हाथ डाल कर कुछ निकाला और जल्दी से मुँह में रख लिया। क्या दवा ? या कोई नशा ?....

'तुम्हारी तबीयत तो ठीक है ?'

'अब ठीक हो जायेगी—अभी हो जायेगी।' स्त्री की बातें सुन कर जगन्नाथन् ने तय किया कि वह दवा नहीं थी, नशा ही था।

स्त्री का शरीर कुछ शिथिल हो आया। उस ने उपरली सीढ़ी पर कोहनी टेक कर पीठ दीवार के साथ लगा दी, फिर बाँयीं कलाई मोड़ कर घड़ी की ओर देखा और शिथिल बाँहें अपनी गोद में गिर जाने दीं।

'क्या बजा है ? मैं कुछ देख नहीं पा रही।' उस का स्वर भी बड़ा दुर्बल जान पड़ रहा था।

जगन्नाथन् ने घड़ी देख कर समय बता दिया।

'तुम्हारा नाम क्या है ?'

जगन्नाथन् ने थोड़ा अचकचाते हुए कहा : 'जगन्नाथन् !'

'ज-जगन्-ज-मैं सिर्फ़ नाथन् कहूँगी-छोटा भी है, अच्छा भी है। नाथन्, मुझे माफ़ कर दो। मैं ने तुम्हें तकलीफ़ पहुँचायी है, लेकिन मेरे ख़िलाफ़ इस बात को याद मत रखना-पीछे याद मत करना। मैं मर रही हूँ।'

'क्यों-तुम ने क्या किया है—क्या कर डाला है! अभी तुम ने क्या खा लिया ?'

'मैं ने चुन लिया। मैं ने स्वतन्त्रता को चुन लिया।' वह धीरे-धीरे बोली : 'मैं बहुत ख़ुश हूँ। मैं ने कभी कुछ नहीं चुना। जब से मुझे याद है कभी कुछ चुनने का मौक़ा मुझे नहीं मिला। लेकिन अब मैं ने चुन लिया। जो चाहा वही चुन लिया। मैं ख़ुश हूँ।' थोड़ा हाँप कर वह फिर बोली : 'मैं चाहती थी कि मैं किसी अच्छे आदमी के पास मरूँ। क्योंकि मैं मरना नहीं चाहती थी—कभी नहीं चाहती थी!' फिर थोड़ा रुक कर उस ने कहा : 'मुझे माफ़ कर दो, नाथन्! तुम ज़रूर मुझे माफ़ कर दोगे। तुम अच्छे आदमी हो। बताओ—अच्छे आदमी हो न ?'

जगन्नाथन् ने सीधे होते हुए कहा : 'मैं डॉक्टर बुला लाऊँ ?'

'नहीं-नहीं! अब कोई फ़ायदा नहीं है।' उस ने कहा : 'अब मुझे छोड़ कर मत जाओ—यही तो मैं ने चुना है!' फिर मानो कुछ सोच कर उस ने जोड़ दिया : 'लेकिन—हाँ, दूसरे लोग भी तो होंगे—लेकिन उन से मैं अपने-आप कह दूँगी। पर तुम जाओ नहीं!'

क्षीणतर होती हुई उस आवाज़ में भी अनुरोध की एक तीव्रता आ गयी।

जगन्नाथन् वहाँ से जा नहीं सका। लेकिन वहीं मुड़ कर उसने ज़ोर से आवाज़ लगायी : 'कोई है—मदद चाहिए—कोई है ?' फिर स्त्री की ओर उन्मुख हो कर उस ने पूछा : 'क्या कह दोगी ?'

'कह दूँगी कि मैं ने चुना, स्वेच्छा से चुना। सब-कुछ कह दूँगी। सारी हरामी दुनिया को बता दूँगी कि एक बार मैं ने

अपने मन से जो चुना वही किया ! हरामी—हरामी दुनिया ! नाथन्—अच्छे आदमी—मुझे माफ़ कर दो !'

जगन्नाथन् बड़े असमंजस में था। एक बार मुड़ता कि सहायता के लिए दौड़े, फिर उस स्त्री की ओर देखता जिस का अनुरोध—शायद अन्तिम अनुरोध—था कि वह उसे छोड़ कर न जाये। फिर उसे ध्यान आता कि वह औरत शायद पूरे होश में भी नहीं है, जानती भी नहीं कि क्या कह रही है, और शायद इतना बोध भी नहीं रखती कि वह उस के पास खड़ा है। लेकिन अगर उसे बोध नहीं है तो जगन्नाथन् को तो है कि उस ने क्या माँगा था ! और शायद जगन्नाथन् का कर्त्तव्य यही है कि वह जो कुछ कह रही है उस का साक्षी हो—अगर वह प्रलाप भी है तो भी उस का साक्षी हो—क्योंकि शायद वही उस स्त्री के पास और कहने को रह गया है। और शायद वही कहना ही वह सार-वस्तु है जिस के लिए वह जैसा भी जीवन जियी है....

स्त्री फिर रुक-रुक कर कुछ कहने लगी। 'कह दो—सारी हरामी दुनिया से कह दो, अन्त में मैं हारी नहीं—अन्त में मैं ने जो चाहा सो किया--मरज़ी से किया। चुन कर किया। मैं--मरियम—ईसा की माँ—ईश्वर की माँ मरियम—जिस को जर्मनों ने वेश्या बनाया—'

जगन्नाथन् ने धीरे से पूछा : 'तुम्हारा नाम मरियम है ?'

'हाँ, मेरा नाम मरियम। ईसा की माँ का नाम मरियम। चुनी हुई माँ। जो कभी मर नहीं सकती—जर्मनों की वेश्या। उस से पहले मेरा नाम योके था। वह मैं ने नहीं चुना, पर अच्छा नाम है। लेकिन योके मर गयी। मरियम कभी नहीं मरती।'

जगन्नाथन् ने मुड़ कर देखा, गली की नुक्कड़ पर कुछ

लोग आ गये थे। उस ने समझा था कि मरियम को—योके को—इतना होश नहीं होगा कि उन का आना जाने, लेकिन उस ने उन्हें देख लिया और किसी तरह हाथ उठा कर इशारे से बुलाया, दो-तीन आदमी दौड़े हुए पास आये और एक बार कौतूहल से जगन्नाथन् की ओर देख कर स्त्री की ओर झुक गये।

योके ने कहा : 'मैं ने अपने मन से चुना है। मैं मर रही हूँ—अपनी इच्छा से चुन कर मर रही हूँ, हरामी मौत।'

उस का स्वर कुछ और दुर्बल हो आया था। जगन्नाथन् को लगा कि उस का शरीर भी शिथिल पड़ रहा है और चेहरे की फीकी होती हुई रंगत में एक हलकी-सी कलौंस आ गयी है। उसे लगा कि योके की पीठ दीवार पर से एक ओर सरक रही है। जल्दी से घुटने टेक कर बैठते हुए उस ने एक बाँह से उसे सहारा दे कर सँभाल लिया। मानो उस के स्पर्श को पहचानती हुई योके ने उस की ओर तनिक-सा मुड़ कर कहा : 'मैं ने कह दिया—सब हरामियों से कह दिया।' फिर थोड़ा रुक कर उस ने आयासपूर्वक कहा : 'उस से भी कह दिया—उस से भी।'

इस 'उस' में कुछ ऐसा प्रबल आग्रह था कि जगन्नाथन् ने अवश प्रेरणा से पूछा : 'उस से किस से ?'

'पॉल से, उस अजनबी से।'

एकाएक सभी लोग चुप हो गये थे। सभी में कुछ होता है जो पहचान लेता है कि कोई महत्त्वपूर्ण घटना घटने वाली है और उस के आसन्न प्रभाव के सामने क्षण-भर चुप हो जाता है। उस मौन में योके और जगन्नाथन् मानो बाक़ी सारी भीड़ से कुछ अलग हो गये थे। योके ने फिर कहा : 'मैं ने चुना। हम अजनबी नहीं चुनते, अच्छे आदमी चुनते हैं। मैं ने आदमी चुना—अच्छा आदमी। उस में मैं जियूँगी। नाथन्, मुझे माफ़ कर दो।'

कल्याणी रेल्वे पुस्तकालय
2484

जगन्नाथन् की बाँह कुछ और घिर आयी और योके का सिर उस ने अपने कन्धे पर टेक लिया।

योके ने कहा : 'किया ?'

जगन्नाथन् ने उस के कान के पास मुँह ले जा कर स्निग्ध भाव से पूछा : 'क्या ?' फिर एकाएक उस का प्रश्न समझ कर जल्दी से कहा : 'हाँ, योके ! किया। माफ़ किया—पर माफ़ करने को कुछ है तो नहीं।'

योके ने बहुत ही धीमे, लगभग न सुने जा सकने वाले स्वर में कहा : 'मैं ने भी किया। अच्छा आदमी। उस को भी—'

जगन्नाथन् ने पूछा : 'पॉल को ?'

एक क्षणिक दुविधा का-सा भाव योके के चेहरे पर आ गया। या कि बेहोशी से पहले के क्षण में उस का मन बहक रहा था ? फिर उस ने कुछ कहा जिसे जगन्नाथन् ठीक-ठीक सुन नहीं पाया। इतना तो स्पष्ट ही था कि योके ने पॉल का नाम नहीं लिया था; कुछ और कहा था। क्या कहा था, यह जानने का अब कोई उपाय नहीं रहा था, लेकिन साक्षी जगन्नाथन् को एकाएक ध्रुव निश्चय हो आया कि योके ने कहा था : 'ईश्वर को।'

फिर वह एकान्त सहसा विलीन हो गया। जगन्नाथन् ने पहचाना कि वह भीड़ से घिरा हुआ है और उस की बाँह योके की जड़ देह को सँभाले हुए है।

उस ने अनदेखती हुई-सी आँखें लोगों पर टिका कर कहा : 'वह गयी।'

स्तब्ध भीड़ में केवल एक ही बूढ़े व्यक्ति को सूझा कि हाथ उठा कर रस्मी ढंग से क्रूस का चिह्न बना दे; वह चिह्न सूने आकाश में अजनबी-सा टँका रह गया। ● ● ●

मृत्यु को सामने पा कर कैसे प्रियजन भी अजनबी हो जाते हैं और अजनबी एक-एक पहचाने हुए, कैसे इस चरम स्थिति में मानव का सच्चा चरित्र उभर कर आता है — उस का प्रत्यय, उस का अदम्य साहस और उस का विमल अलौकिक प्रेम भी वैसे ही और उतने ही अप्रत्याशित ढंग से क्रियाशील हो उठते हैं जैसे उस की निम्नतर प्रवृत्तियाँ……

अपने-अपने अजनबी के पात्र विदेशी हैं और कहानी भी विदेश में घटित होती है, पर अपनी गहराई में उपन्यास पूर्व और पश्चिम का भी एक साक्षात्कार है : मृत्यु के प्रति जिन दो विरोधी भावों की टकराहट इस में है, वास्तव में उन के पीछे पूर्व और पश्चिम की जीवन-दृष्टियाँ हैं : वे दो दृष्टियाँ ही यहाँ मिलती हैं और मानव-जीवन के एक नये आयाम का उन्मेष करती हैं।

अपने-अपने अजनबी में पौराणिक रूपक का-सा अर्थ-गाम्भीर्य है। वह दुःखान्त हो कर भी जीवन-प्रेम का मानो खण्डकाव्य है।

और यह आप के हाथों में है इस कृति का तीसरा संस्करण।

मूल्य : ४.००

भारतीय ज्ञानपीठ

उद्देश्य

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध
और अप्रकाशित सामग्री का
अनुसन्धान और प्रकाशन
तथा लोक-हितकारी
मौलिक साहित्य का निर्माण

•

संस्थापक
श्री शान्तिप्रसाद जैन
अध्यक्षा
श्रीमती रमा जैन

•

मुद्रक : सन्मति मुद्रणालय दुर्गाकुण्ड मार्ग, वाराणसी–५